TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180381

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No H53.1 P.G Acc.No H 3500
G975

MANIA UNIVERSITY LIBRARY

Accession No. P.G.H 8556

book should be returned on or before the date
ed below.

सपने का अन्त

लोकप्रिय, प्रगतिशील कथाकार भैरव प्रसाद गुप्त का यह नया संग्रह है। इस संग्रह में उनकी गाँव और शहर की तेरह प्रतिनिधि तथा श्रेष्ठ कहानियाँ हैं, जिनमें शिल्प-सौन्दर्य की ही नहीं वस्तु की भी अपूर्व विविधता है।

गुप्तजी का नया वृहत् उपन्यास 'रम्भा' शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

सपने का अन्त

भैरव प्रसाद गुप्त

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९६१

C भैरव प्रसाद गुप्त, १९६१

मूल्य : [illegible] रुपये [illegible] नये पैसे

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन : ५ खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

मुद्रक
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स : ३ क्लाइव रोड, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

प्रगतिशील कहानीकार, उपन्यासकार तथा कहानी-मासिकों के सम्पादक की हैसियत से श्री भैरव प्रसाद गुप्त का नाम हिन्दी-क्षेत्र में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उनके उपन्यास, 'शोले', 'मशाल', 'गंगा मैया', 'ज़ंजीरें और नया आदमी' तथा 'सत्ती मैया का चौरा' पाठकों से अतीव लोकप्रियता तथा आलोचकों से श्रेष्ठता की सनद पा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इनके अब तक आठ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनकी कई कहानियाँ आधुनिक हिन्दी-कहानी की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती हैं। हमारे यहाँ से प्रकाशित इनका कहानी-संग्रह 'महफ़िल' इतना लोकप्रिय हुआ है कि दो वर्षों के भीतर ही इसका दूसरा संस्करण हमें प्रकाशित करना पड़ा है।

आधुनिक हिन्दी-कहानी के साथ गुप्तजी का कई तरह से बहुत ही गहरा सम्बन्ध रहा है। आधुनिक हिन्दी-कहानी को एक साहित्यिक आन्दोलन का रूप देने में गुप्तजी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह आन्दोलन

आज जो रूप ले चुका है, उससे सभी कहानीकार तथा कहानी-प्रेमी परिचित हैं। यह कहना भी ग़लत न होगा कि आज इसी आन्दोलन के फल-स्वरूप हिन्दी में नये कहानीकारों की एक ऐसी पाँत-दर-पाँत खड़ी हो गयी है, जैसी भारत की किसी भी अन्य भाषा में नहीं है। 'माया', 'मनोहर कहानियाँ', 'कहानी' और अब 'नई कहानियाँ' के सम्पादक की हैसियत से श्री भैरव प्रसाद गुप्त ने हिन्दी-कहानी को जिन मंज़िलों और स्तरों तक पहुँचाया है, उसका इतिहास साक्षी है।

कहानी के विषय में गुप्तजी के अपने विचार हैं। यथार्थ जीवन कहानी में चित्रित हो, इसके वह हामी हैं। उनकी कहानियों में यह स्पष्टता से देखा जा सकता है। उनकी कहानियाँ जीवन की विविधता और विशालता लिये हुए हैं। गाँव से शहर तक उनका विस्तार है। जनता उनका विषय है। गुप्तजी की कहानियाँ कोरी कल्पना की उड़ानें नहीं, बल्कि ज़िन्दगी की धड़कनों से अनुप्राणित हैं और चाहे कला या शिल्प का कितना भी समावेश उनमें क्यों न हो, वे उद्देश्यपूर्णता का दामन नहीं छोड़तीं।

'सपने का अन्त' गुप्तजी की कहानियों का नया प्रतिनिधि संग्रह हमारे उपरोक्त कथन का समुचित प्रमाण है। शीघ्र ही हम गुप्तजी के और कहानी-संग्रह भी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

●

अनुक्रम

मजनूँ का टीला	:	११
कदम के नीचे	:	३७
आँख की पट्टी	:	४६
चाय का प्याला	:	६२
सिविल लाइन का कमरा	:	७५
फूल	:	९९
इन्सान और मक्खियाँ	:	१२५
ऐसी आजादी रोज-रोज हो	:	१३४
एक पाँव का जूता	:	१४४
नया खाता	:	१५४
पियारा बुआ	:	१६५
प्रकाश का देवता	:	१७०
सपने का अन्त	:	१८२

सपने का अन्त

मजनूँ का टीला

शरद्-पूर्णिमा की रात भींग चुकी थी। चाँद जोबन पर था। चाँदनी की उज्ज्वल खिलखिलाहट की आभा में नयी दिल्ली रुपहली हो स्वप्न-नगरी की तरह मोहक हो उठी थी। सुफ़ेद-सुफ़ेद इमारतें चाँदनी की सुफ़ेदी में एक-रूप हो गयी थीं। काली-काली, चमकीली 'कोल-टार' की सड़कें ऐसी लगती थीं, जैसे ज्योत्सना रानी ने अपनी रुपहली अलकों में काले-काले रेशमी फीते बाँध रखे हों।

चारों ओर छाये हुए रहस्यमय सन्नाटे को तीर की नोक की तरह चीरती एक किश्तीनुमा, सफ़ेद कार की धीमी भरभराहट की आवाज़ मिन्टो रोड पर बही जा रही थी। लगता था कि कार बिलकुल नयी है और उसका चालक भरसक इस प्रयत्न में है कि कार चलने में और भी कम आवाज़ हो। काली मिन्टो रोड पर धीमी चाल से दौड़ती हुई सुफ़ेद, किश्तीनुमा कार ऐसी लगती थी, जैसे जमुना के श्यामल जल की मन्द-मन्द धार में चाँदी की एक नाव आप ही बही जा रही हो।

अगली मोड़ पर कार दाहिनी ओर मुड़ी और चालक ने आहिस्ते

से ब्रेक लगाया। ज़रा-सी घर्र की आवाज़ हुई। कार एक घने वृक्ष के साये में खड़ी हो गयी। दो चमकती हुई आँखें, जिनमें अपने किसी प्यारे को देखने की उत्सुकता मचल रही थी, बायें दरवाज़े पर झाँकने लगीं। कोई नज़र न आया। पलकें और भी ऊपर उठीं। आँखें इधर-उधर हिलीं-डुलीं। फिर भी कोई नज़र न आया। तब दरवाज़े के बाहर एक सुफ़ेद हाथ निकला। कलाई पर रेडियम घड़ी बिल्ली की आँख की तरह चमक उठी। उन आँखों ने देखा, छोटी सूई बारह पर थी और बड़ी सूई ग्यारह पर। 'अभी पाँच मिनट हैं', साँस में ही मिली हुई आवाज़ आयी। आँखें घड़ी पर ही टिकी रहीं। छोटी सूई बारह पर और बड़ी सूई ग्यारह पर। 'ऊ-हूँ !' ग़लत है। बड़ी सूई को बारह पर होना चाहिए और छोटी सूई को ग्यारह पर, क्योंकि बड़ी सूई संकेत-स्थान पर पहुँच चुकी है और छोटी सूई अभी पाँच मिनट बाद पहुँचेगी।'—मिसमिसाहट-भरी, अपने में ही घुटी-सी आवाज़ आती गयी। फिर लगा, जैसे उन आँखों के सामने घड़ी की छोटी सूई सचमुच ग्यारह पर आ गयी और बड़ी सूई बारह पर। आँखों के सामने हवा में एक धीमी कँपकँपाहट हुई 'उफ़, अगर ऐसा होता, तो मुझे पाँच मिनट के बदले पूरे एक घंटे तक प्रतीक्षा करनी पड़ती ! कम्बख्त घड़ी के आविष्कारक ने बड़ी सूई को घटे की और छोटी सूई को मिनट की सूई क्यों नहीं बनायी ? उसे क्या पता नहीं था कि बड़ी सूई संकेत-स्थान पर सदा पहले पहुँचती है और छोटी सूई बाद में ? शायद उसे पता न हो, शायद उसने अपनी ज़िन्दगी में कभी किसी लड़की को प्यार न किया हो !' फुसफुसाहट की आवाज़ अभी खत्म भी न हुई थी कि दरवाज़े पर दाँतों की दो पंक्तियाँ चमक उठीं और हल्की हँसी की आवाज़ उठकर क्षण में ही जैसे वहीं खो गयी।

अब छोटी सूई बारह पर थी और बड़ी सूई छोटी सूई पर। आँखें

घड़ी से उड़कर सामने बिछ गयीं। सामने थोड़ी ही दूर पर चाँदनी-भरी हवा में एक सुफ़ेद धब्बा हिलता-डुलता नज़र आया। दरवाज़े की जंजीर धीरे-से दबी। एक हल्का-सा खटका हुआ और दरवाज़ा खुल गया। कार से उतरकर एक सुफ़ेदपोश युवक की आकृति पेड़ के साये में खड़ी हो गयी। हाथों ने उठकर गले की टाई की गाँठ ठीक की। पैण्ट की जेब से एक सुफ़ेद हल्का फुल्का रूमाल निकला और चेहरे पर घूम-फिरकर वापस जेब में चला गया। फिर नज़रें सामने हुईं। पुतलियों की धीमी कँपकँपाहट से ज्ञात होता था कि युवक के शरीर में एक हल्की सनसनाहट दौड़ रही है। अब सामने चाँदनी में एक सुफ़ेदपोश युवती के शरीर की बाह्य रेखाएँ उभरीं, जैसे सुफ़ेद आर्ट पेपर पर किसी युवती के कलापूर्ण शरीर की बाह्य रेखाओं की छाप उठी हुई हो। उसका दाहिना हाथ हवा में उठा हुआ था और उस हाथ की उँगलियों में एक काला रूमाल हिल रहा था। युवक ने मुँह से सीटी बजायी। लगा जैसे पेड़ की शाख पर बुलबुल चहक उठी हो। युवती के शरीर की बाह्य रेखाओं में कम्पन हुआ। कानों ने आवाज़ की दिशा का संकेत किया। ओठों पर मुस्कान थिरक उठी। सामने की चाँदनी जैसे और उज्ज्वल हो उठी। वह उस वृक्ष की ओर बढ़ी। युवक की मुस्कराती आँखों के सामने युवती की तस्वीर सिनेमा की तस्वीर की तरह दूर से समीप, और समीप आती गयी और स्पष्ट, और स्पष्ट होती गयी। फिर साड़ी की हल्की सरसराहट और नरम क़दमों की रबर सोल के सैंडिलों से निकलती हुई धीमी आवाज़! युवक के हृदय की धड़कन कुछ तेज़ हो गयी। उसके पैर आप ही आगे को उठ गये। और दूसरे ही क्षण पेड़ की घनी छाया की पृष्ठ-भूमि पर श्वेत रेखाओं में नारी और पुरुष का घुला-मिला अजन्ता शैली का एक चित्र खिंच गया। फिर साँसों-ही-साँसों में, उच्छ्वासों की ही भाषा में कुछ नन्हें-मुन्ने, प्यारे-प्यारे,

अस्पष्ट शब्द !

युवक ने सहारा दे युवती को कार में बैठाया। फिर आप अन्दर हो, दरवाज़ा धीरे-से बन्द कर स्टार्ट की चाभी घुमायी। भर्र की एक आवाज़ हुई। कार एक हल्का हचकोला ले आगे सरकी। चाँदनी रात, मुस्कराती हुई फ़िज़ा, जिसमें जैसे मस्ती की बारिश हो रही हो, सुखमय खामोशी और अकेली ख़ुशनुमा कार धीमी हवा की रफ़्तार से हमवार सड़क पर चलती ! प्रेमियों के जोड़े को लग रहा था जैसे वे उड़नखटोले में बैठे चाँद और तारों के देश की सैर कर रहे हों।

कार चली जा रही थी। और भरभराहट में लिपटी हुई ये बारीक ध्वनियाँ धीमे पवन की लहरियों में अंकित होती जा रही थीं—

"तुम्हें बहुत देर तक इन्तज़ार तो नहीं करना पड़ा ?"

"नहीं, तुम बिलकुल ठीक वक्त पर आ गयीं। मुझे डर तो था कि कहीं तुम्हें नींद न आ जाय।"

"नींद ! इस खिलखिलाती चाँदनी में तो नींद का दिल भी मचल रहा होगा कि वह भी अपनी आँखें खोले, अपने प्रियतम के गले में बाहें डाले इस मुस्कराते चाँद को एक टक रात भर देखा करे। पर बेचारी नींद..."

"क्यों, सपने की रानी नींद पर इतनी करुणा क्यों बिखेरी जा रही है ?"

"नींद सपने की रानी है, यही तो उसके दुख का विषय है। जब तक बेचारी आँखें बन्द न करे, उसके सपने महाराज आने की कृपा ही नहीं करते !"

"तब तो, प्रीति, हमीं खुशक़िस्मत हैं, जो हमें एक-दूसरे से मिलने के लिए अपनी आँखें बन्द नहीं करनी पड़तीं !"

"हाँ, बल्कि इसके विपरीत हमें एक-दूसरे के पास आने के लिए

उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक कि दूसरों की आँखें बन्द नहीं हो जातीं।"

एक हल्की-सी मिली-जुली हँसी की ध्वनि।

"क्यों इतनी रात गये तक भी तुम्हारे यहाँ कोई जग रहा था क्या?"

"मत पूछो, प्रेम! आज तो मैं बेहद परेशान हो गयी थी। न जाने कहाँ से मेरे पिताजी का एक मित्र शाम को ही आ धमका। चाय पी। फिर खाना खाया। मैंने सोचा, अब चला जायगा। पर वह मरदूद जो पिता जी से गप्प लड़ाने लगा, तो लगा, जैसे सुबह करके ही उठेगा। जब ग्यारह बज गये तो मारे घबराहट के मेरा दम फूलने लगा। लगा, जैसे पूर्णिमा के चाँद पर एक ऐसा काला बादल आ छा गया है, जो सुबह तक हटने का नहीं। दिल की उमंगें, तुमसे मिलने की सारी खुशियाँ जैसे हवा हो गयीं। रह-रहकर निराशा से उदास तुम्हारा चेहरा आँखों के सामने फिरने लगा। हृदय मारे व्यथा के कसक उठा। आँखों में आँसू भर आये। आखिर तकिये में मुँह गड़ाये, कलेजे को हाथों से दबाये कुछ देर तक योंही पड़ी रही। फिर अपने को बहलाने की कोशिश की। मगर दिल था कि उसे किसी पहलू भी चैन ही न मिलता था। क्या करती, सोचा, क्यों न कोई उपन्यास ही पढ़ तबीयत बहलाऊँ। उठकर टेबल-लैम्प का बटन दबाने ही वाली थी कि एक खयाल दिल में आ चमका। चुटकी बजा मैं उठ खड़ी हुई। धीरे-से कमरे की सिटकिनी नीचे सरकायी। फिर चाकू ले कमरे के बाहर दीवार पर लगे स्विच-बोर्ड के सामने जा खड़ी हुई। एक बार इधर-उधर आँखें उठा भाँपा। माताजी के कमरे से खर्राटे की आवाज़ें आ रही थीं। अनीता के कमरे से नींद में डूबी गहरी साँसें साफ़ सुनायी पड़ रही थीं। सिर्फ़ पिताजी के कमरे से उनके मित्र की बातें सुनायी दे रही थीं।

तार की ओर चाकू उठाते समय एक बार मेरा हाथ काँपा, पर इस चाँदनी रात में तुमसे मिलने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र थी कि मैं दूसरे ही क्षण अपने काँपते हाथ पर काबू पा गयी। तार का काटना था कि पिताजी के कमरे में एक शोर बरपा हो गया। कुर्सियों के इधर-उधर हटने की खड़खड़ाहट हुई कि मैं अपने कमरे में आ, दरवाज़ों को उढ़ँगा कर चारपाई पर ऐसे पड़ गयी, जैसे आठ ही बजे की सोयी हूँ। नौकरों के नाम बारी-बारी से ले पिता जी थोड़ी देर तक चीख़ते-चिल्लाते रहे। पर उस समय वहाँ था ही कौन ? सब-के-सब खा-पीकर अपने क्वार्टरों में चले गये थे। एक नौकरानी ज़रूर थी, पर उसे मैंने शाम को ही साँट लिया था। आख़िर उनके मित्र के दिमाग़ में अब जाकर अक्ल आयी। मैंने अपने कमरे से ही सुना। वह पिताजी से कह रहे थे, 'ज़्यादा ज़हमत न उठायें। काफ़ी रात गुज़र चुकी है। अब आप आराम करें।' पिताजी ने जैसे झुँझलाकर कहा,—'इन कम्बख्त नौकरों से तो तबीयत परेशान है ! लाख चीख़ें, चिल्लायें, इनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती !' थोड़ी देर बाद जब सब ओर सन्नाटा छा गया, तब जाकर मेरी जान में जान आयी।"

"तुम कितनी चतुर हो, प्रीति ! तुम्हारी इस अनोखी सूझ की जितनी भी तारीफ़ की जाय, कम है !"

"प्रेम सब-कुछ सिखा देता है। दिल में चाह होनी चाहिए, फिर तो राह आप ही निकल आती है। हाँ, कभी-कभी इन पाबन्दियों से तबीयत झुँझला ज़रूर जाती है।"

"लेकिन इस लुक-छिपकर चोरी-चोरी मिलने में जो मज़ा आता है, वह भला क्या..."

"सो तो ठीक है। पर एक दिन यही पाबन्दियाँ अगर बेड़ियाँ बन पैरों को जकड़ लें तो शुरू जवानी के आँख-मिचौली के इन खेलों का

क्या हश्र होगा ?"

"हमारे प्रेम का खेल हमारी ज़िन्दगी का खेल है, प्रीति ! हम अपने को किसी हालत में भी पाबन्दियों के हवाले न करेंगे। और ये पाबन्दियाँ भी तो तभी तक हैं, जब तक हम अपने पैरों पर खड़े नहीं हो जाते।"

"और अगर वह वक्त आने के पहले ही..."

"ओह, प्रीति, आज तुम यों बूढ़ियों-सी बातें क्यों कर रही हो ? क्या आज कोई ऐसी बात हो गयी, जिससे तुम्हारे दिल में ऐसी शंकाएँ उठ रही हैं ?"

"नहीं, नहीं प्रेम ! अभी तो कुछ ऐसा नहीं हुआ। पर आज जो मुझे एक कड़वा अनुभव हुआ है, उससे मेरा दिल घबरा उठा है। ग्यारह बजे तक जब पिताजी का मित्र न हटा तो यह सोचकर कि आज मैं तुमसे न मिल सकूँगी, मुझे जो पीड़ा हुई, वह अपनी तरह का मेरा पहला अनुभव था। इसके पहले मुझे ऐसे अनुभव का अवसर ही कहाँ मिला था। इसीलिए बार-बार यह बात मेरे दिमाग़ में उठ रही है कि काश, कहीं ऐसा हो गया कि मैं तुम से मिलने से मजबूर कर दी गयी, तो मेरी क्या हालत होगी ?"

"बस, इतनी-सी बात से तुम घबरा गयी हो ? नहीं, प्रीति, नहीं ! तुम्हारे प्रेम के जीवित रहते ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। तुम्हारा प्रेम अपना सर्वस्व न्योछावर कर के भी तुम्हें अपना बनायेगा। तुम अपने प्रेम पर विश्वास रखो ! किसकी हिम्मत है जो तुम्हें तुम्हारे प्रेम से अलग कर सके ?"

"हाँ, प्रेम, तुम्हारे बिना अब मुझसे एक छन भी न रहा जायगा ! मेरे रोम-रोम में तुम बस गये हो !"

"प्रीति !"

"प्रेम !"

कार की चाल एक मिनट के लिए और भी धीमी हो गयी। फिर दो मिली हुई मुहब्बत की सन्तोष-भरी लम्बी साँसों की सिहरती हुई आवाज़। कार फिर अपनी रफ़्तार से चल पड़ी। फिर वही भरभराहट और उसमें लिपटी हुई बारीक ध्वनियाँ—

"तो आज कहाँ चलने का इरादा है ?"

"मैंने चिट में लिख तो दिया था।"

"ओह, मैं तो भूल ही रही थी ! प्रेम, जब तुम्हारे पास मैं होती हूँ, तो न जाने मेरे दिल-दिमाग़ की क्या हालत हो जाती है। हाँ, वह मजनूँ का टीला कहाँ है ?"

थोड़ी दूर और है। बड़ा ही सुरम्य स्थान है। देखकर तुम ख़ुश हो जाओगी। हाँ, उस चिट को तुमने फाड़ दिया था न ?"

"फाड़ती क्यों ? उसे कलेजे से लगा मैंने अपने चित्राधार में रख छोड़ा है।"

सड़क से दाहिनी ओर मुड़, थोड़ी दूर कच्ची सड़क पर चलकर कार रुक गयी। दोनो उतर हाथ में हाथ झुलाते चल पड़े।

"उई !" प्रीति का बायाँ पैर गड्ढे में पड़ जाने से घुटने में लचक आ गयी। वह झुककर पैर थाम चीख़कर बैठने को हुई कि प्रेम उसे हाथों पर सँभालता, परेशान सा बोल पड़ा—"क्या हुआ ?"

पैर ऊपर उठा वह बोली—"मोच आ गयी।"

"कहाँ ?" और परेशानी ज़ाहिर करता वह बोला।

"यहाँ," घुटने पर हाथ रखते उसने कहा।

"यहाँ ?" घुटने पर हाथ रख प्रीति की आँखों की ओर आँखें उठाये वह बोला।

"हाँ।"

"रास्ता ज़रा ख़राब है। बहुत कम लोग यहाँ आते-जाते हैं।"—धीरे-धीरे उसके घुटने को सहलाते वह बोला।

"बस करो। अब ठीक हो गया।" उसका हाथ अपने हाथ में ले वह बोली। प्रेम के कन्धे पर हाथ रखे वह बायें पैर से कुछ भचकती हुई चली। फिर धीरे-धीरे ठीक से पैर रखने लगी।

"वह जो मीनार दिखायी देती है न, वही है मजनूँ का टीला।" सामने हाथ से इशारा करते प्रेम बोला।

सामने चाँदनी के प्रकाश में जैसे अन्धकार का एक ऊँचा स्तम्भ खड़ा था। उसी की ओर आँखें उठाये प्रीति बोली—"बहुत पुरानी मालूम पड़ती है।"

"हाँ, बहुत पुरानी है। लोगों का कहना है कि मजनूँ अपनी लैला की खोज में जब पहाड़ों, वीरानों और जंगलों की ख़ाक छान रहा था, तो यहाँ भी उसके पद-चिह्न पड़े थे। किसी दीवाने ने उन्हीं पद्-चिह्नों के स्मृति-स्वरूप यह मीनार खड़ी की थी।"

"ओह! तब तो प्रेमियों के लिए यह एक तीर्थ-स्थान है।" ओठों पर मुस्कान और आँखों में चमक लिये प्रीति बोली।

"क्यों नहीं? लैला और मजनूँ, प्रेम की दो सब से अधिक चमकीली, अमर किरणें चमकती रहेंगी संसार के प्रेमियों की आँखों में प्रलय की आख़िरी घड़ी तक चाँद और सूरज की तरह!" आत्म-विभोर-सा प्रेम बोला।

"आओ, ज़रा नज़दीक से देखें," मीनार की ओर मुड़ती, आँखों में असीम श्रद्धा लिये प्रीति बोली।

"देखो, काँटों में तुम्हारी साड़ी न उलझ जाय!" सामने की जंगली बेर की झाड़ी की ओर से प्रीति का बाज़ू पकड़ उसे अपनी ओर खींचते प्रेम बोला—"पहले चलो, जमुना का आनन्द ले लें। फिर लौटते इधर

से होकर चलेंगे।"

"यहाँ जमुना कहाँ?" आँखों को ऊपर उठा पुतलियाँ नचाती प्रीति बोली।

"आओ भी तो! हाँ, ज़रा अपनी साड़ी को कब्ज़े में कर लो। वरना इन झाड़ियों के काँटों के प्रेम-प्रदर्शन से तुम तो परेशान होओगी ही, मेरी भी अँगुलियाँ उनसे तुम्हारे दामन को बार-बार छुड़ाने में ख़ून-ख़ून हो जायँगी!" परिहास की एक मधुर हँसी हँसता प्रेम प्रीति के आँचल को उसकी कमर में कसकर लपेटता बोला।

आगे-आगे प्रेम झाड़ियों की टहनियों को हाथों से हटाता और उसके पीछे-पीछे प्रीति बदन चुराती बढ़ती गयी।

अब वे जमुना के कगार पर थे। सामने रेत के सपाट मैदान में चमकीली चाँदनी की चादर बिछी हुई थी। उसके आगे जमुना के सुनील जल की झिलमिलाती धार ऐसी लग रही थी, जैसे चाँदी के मैदान से पिघले हुए नीलम की धार बही जा रही हो। कगार पर सटकर खड़े प्रेम और प्रीति खिलखिलाती हुई उत्फुल्ल आँखों से जैसे सामने बिखरे हुए असीम, उजले सौन्दर्य को पी जाना चाहते हों। एक टक सामने देखती ही प्रीति खोयी-सी बोली—"प्रेम, अगर दूर से हमें इस तरह कोई देख ले, तो क्या समझेगा!"

"समझेगा कि आकाश का चाँद पृथ्वी पर उतर चाँदनी के गले में बाहें डाले जमुना की शोभा निहार रहा है!" कहकर आँखों में जैसे एक नशा-सा भर उसने प्रीति की ओर देखा। प्रीति ने अपनी सीप-सी लम्बी-लम्बी, बोझिल पलकें उठायीं। प्रेम ने देखा, उन पलकों की आड़ में जैसे शराब का समुद्र लहरा रहा हो। उसने आवेश में प्रीति का हाथ अपने हाथ में ले ज़ोर से दबा दिया। हृदय का उमड़ता उच्छ्वास साँस की राह निकल प्रीति के कपोल को सहराता निकल गया। ठगे-ठगे-से

ही वे सँभलकर एक-दूसरे का सहारा बने नीचे उतरे।

खिली हुई चाँदनी, हँसती हुई रूमानी फ़िज़ा, गुलाबी शीतलता में बसी हुई रह-रहकर सिहरती हुई हवा, चारों ओर दृष्टि की सीमा तक छायी हुई ख़ुशगवार, रहस्यमय ख़ामोशी, नीचे मिट्टी मिली हुई कोमल रेत, ऊपर अमृत की बारिश करता चाँद, पीछे लैला-मजनूँ की प्रेम-कहानी का मूर्त्त रूप मजनूँ का टीला, सामने गोपियों के रस-भरे गीतों को गुनगुनाती बहती जा रही जमुना! और इन सब के बीच प्रेम और प्रीति! लग रहा था, जैसे वे ख्वाबों की दुनिया से हवा में पग रखते गुज़र रहे हों सौन्दर्य और यौवन के सुगन्धित नशे में झूमते हुए!

तन्मयता में ही प्रेम का हाथ मचलकर प्रीति की ओर बढ़ा कि प्रीति की कमर में एक आकर्षक झुकाव हुआ और दूसरे ही क्षण वह खिलखिलाती हुई, स्प्रिंग की तरह उछलकर क्रीड़ातुर-सी भाग खड़ी हुई। शान्त वातावरण में उसकी मधुर खिलखिलाहट से जैसे सैकड़ों चाँदी की नन्ही-नन्ही घंटियाँ टुनटुना उठीं। प्रेम के कान जैसे अमृत से भर उठे, हृदय के तारों में जैसे मधुर-मधुर गीतों की रागिनी बज उठी, आँखों से जैसे प्रेमासव छलक उठा। वह मुस्कराता लपका।

आगे-आगे दूसरे-तीसरे कदम पर मुड़-मुड़कर खिलखिलाती, कौतुक-भरी, बड़ी-बड़ी नाचती आँखों से देखती, भागती हुई प्रीति और पीछे-पीछे आँखों में लबालब प्यार भरे प्रेम! जैसे उसका मन चाहता हो कि योंही छिटकी रहे चाँदनी की मोहिनी मुस्कान, योंही भागती रहे प्रीति, योंही गूँजती रहे उसकी खिलखिलाहट और योंही पीछे-पीछे दौड़ता रहे वह क्षितिज के छोर तक!

क्षितिज के छोर तक तो नहीं, हाँ, जमुना के छोर तक इस शोख सुन्दरता और अल्हड़ यौवन की क्रीड़ामय भाग-दौड़ चलती रही। कछार के अधभीगे रेत पर थकी हुई प्रीति स्वतंत्रता से दोनों पैर आगे को

फैला, दोनों हाथों को पीछे की ओर रेत पर टेक, सिर ज़रा पीछे को लटका ज़ोर से हाँफती हुई बैठ गयी। आँचल बायें कन्धे से बाज़ू तक फैल लहरा रहा था और लम्बी वेणी दायीं बाहँ पर कई बल खा लिपटी हुई थी।

पास आ प्रेम उस सुन्दरता के अस्त-व्यस्त, मुक्त विलास को अतृप्त-सी आँखों से मन्त्र-मुग्ध-सा देखता रह गया।

"बैठो भी! तुमने तो आज दौड़ा कर मुझे परेशान कर डाला!" प्रीति ने आँखों को उसकी ओर मोड़ तनिक शिकायत के लहजे में कहा।

उसके दाहिने बैठ, उसकी वेणी को उँगली से छेड़ता पलकें झुकाये प्रेम बोला—"शान्त सुन्दरता को देखते-देखते जब आँखें ऊब उठीं, तो उसे ज़रा छेड़ परेशान सुन्दरता का रूप देखने को जी ललक उठा!"

"हूँ!" आँखें मटका, बनती हुई प्रीति बोली—"तो अब कौन-सा रूप देखने का इरादा है?"

"नारी का सब से मनमोहक रूप!" प्रेम झट से बोल उठा, जैसे इस प्रश्न के उत्तर को उसने पहले ही से सोच रखा था। और आँखों में वह एक मुस्कराता हुआ प्रश्न लिये प्रीति की आँखों में देखने लगा।

"वह कौन-सा है?" आँखों में मचलती उत्सुकता को मुस्कराहट में छिपाती वह बोली।

"नारी का रूठना!" प्रीति के कान के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाया प्रेम।

"अच्छा! तो लो मैं रूठी!" कहकर आँचल का घूँघट आँखों तक खींच, बायें हाथ से प्रेम की छाती को एक हल्का धक्का दे, घूमकर, सिर ज़रा झुका, आँखों में हास्य-मिश्रित लज्जा लिये मुँह फेर लिया उसने।

उछलकर प्रेम उसके मुँह की ओर जा बैठा। और गर्दन नीचे कर, आँखें उठा उसे देखते बोला—"सुन्दर नार रूठे, तो कौन न मनाये! मान जाव, मेरी रानी!" कहते-कहते जैसे उसका कलेजा, उसकी आँखों में आ बैठा।

"हटो भी! यों कोई देख ले, तो?" हाथ से उसका मुँह हटाते शर्मायी-सी प्रीति बोली।

"यों कोई देखेगा, तो सोचेगा कि मानसरोवर के तट पर एक हंसों का जोड़ा एक-दूसरे की गर्दन में चोंचें लिपटाये बैठा है।"

"अच्छा जी!" और कुछ वह कहना ही चाहती थी कि हँसी रोके न रुकी और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी।

प्रेम को लगा, जैसे जमुना के तट पर श्वेत कमल खिल उठे हों। सिर उठा, उल्लसित आँखों से उसने एक बार आकाश के चाँद को देखा, कि फिर प्रीति को देख, जमुना पर आखें टिका मुग्ध-सा बोला—

"प्रीति, यह आईना-सी बहती हुई जमुना की धार, ऊपर जा-बजा छिटके हुए तारों के बीच मुस्कराता हुआ चाँद, नीचे नन्हीं-नन्हीं लहरियों पर झूला झूलता चाँद और तारों का मोहक देश, और इन दो चाँद और तारों की सुन्दर दुनिया के बीच बैठे हुए हम और तुम! लगता है, जैसे आज सृष्टि का सारा सौन्दर्य, सारी सुषमा सिमटकर हमारे हृदयों में आ बसी है। प्रीति आज के ये मधुर क्षण क्या जीवन में कभी भुलाये जा सकेंगे?" कहते-कहते प्रेम का कण्ठ जैसे हृदय की आनन्दानुभूति की असीमता के आवेश में रुँध-सा गया।

आत्म-विभोर-सी प्रीति ने उसकी छाती पर सिर टेक दिया। दोनों की आँखें आप ही धीरे-धीरे मुँद गयीं, जैसे दोनों अपनी आत्मा के लहराते हुए सागर में डुबकी लगा गये।...

उसी समय मजनूँ के टीले के पास बेर की झाड़ियों में पत्तों की

खड़खड़ाहट हुई। फिर दो छायायें लम्बे-लम्बे कदम रखती कगार पर आ खड़ी हो इधर-उधर चौकन्नी नज़रों से देखने लगीं। दूर जमुना-तट की ओर हाथ उठा एक ने फुसफुसाहट के स्वर में दूसरे से कहा—"वह देखो! वही होंगे। तुम जाओ। मैं उस मीनार में छिप जाता हूँ। होशियारी से काम लेना!"

कहने वाली छाया मीनार की ओर बढ़ गयी और दूसरी छाया जमुना की ओर।

प्रेम और प्रीति के पीछे कुछ दूर पर खड़ी हो छाया ने उन्हें ग़ौर से देखा। फिर ओठों में बुदबुदायी, 'वही तो हैं।' और हल्के कदम रखती वह ठीक उनके पीछे जा खड़ी हुई और फिर उन्हें एक बार ध्यान से देख धीरे से बोली—"कौन? प्रेम और प्रीति?"

प्रेम और प्रीति की तन्मयता टूटी। अकचकाकर आँखें पीछे की ओर मुड़ीं, तो देखा, एक लम्बा व्यक्ति ओठों पर सुस्मित हास लिये उन्हीं की ओर निहार रहा था। उसके सिर के लम्बे-लम्बे, सुफ़ेद बाल गर्दन तक लटके हुए थे, सुफ़ेद दाढ़ी छाती पर लहरा रही थी, सुफ़ेद कुरता घुटनों के नीचे तक और उसके नीचे सुफ़ेद ही तहमद पाँवों तक को ढँके हुए था।

प्रेम और प्रीति की आँखों में भय काँप उठा। प्रीति चीखती हुई-सी बोल पड़ी—"भूत!" और उसे ऐसा लगा, जैसे वह बेहोश हो रही हो। नन्ही-सी जान!

प्रेम की काँपती आँखों के सामने बचपन की सुनी हुई भूतों की कितनी ही डरावनी कहानियों की घटनाएँ क्षण भर में घूम गयीं। उसका रोम-रोम काँप उठा।

"बेटा! यों घबराओ नहीं!" छाया ने निहायत ही नरम स्वर में कहा—"मैं भूत नहीं हूँ। और तुम तो सच्चे प्रेमी हो। तुम्हें भूत और

भविष्य का डर क्यों ? प्रेमी का तो वर्त्तमान इतना सरस, इतना सुखद होता है कि उसे न तो कभी भूत का ख्याल आता है और न उसे भविष्य की चिन्ता ही सताती है !"

प्रेम की सहमी हुई नज़र छाया के सौम्य चेहरे पर धीरे-धीरे उठी। गले के नीचे कई बार कुछ उतारकर उसने किसी तरह टूटे स्वर में कहा—"तो...तो...आप कौन हैं ? हमारा नाम आप को कैसे मालूम ?"

सहमी हुई प्रीति को प्रेम के पीछे खिसकती देख छाया मुस्करायी। फिर बोली—"मैं मुहब्बत का फ़रिश्ता हूँ। दुनिया का कोई प्रेमी मुझ से अनजान नहीं। मैं दुनिया में घूम-घूमकर सच्चे प्रेमियों को आशीष देता हूँ। मैं तरसों रोमियो और जुलियट की कब्र पर गया था, परसों युसूफ और जुलैखा के मदफ़न पर और कल शीरीं और फ़रहाद के मज़ार की जयारत की थी और आज मजनूँ के टीले की सैर को निकला हूँ। मुझे ख़ुशी है कि यहाँ तुम-जैसे प्रेमियों का सुन्दर जोड़ा देखने को मिला। प्रेम और प्रीति ! वाह, क्या नाम हैं तुम्हारे। जैसे भगवान ने दुनिया में तुम्हें इसलिए भेजा है कि तुम एक-दूसरे को प्यार करो, एक-दूसरे के गले में बाहें डाले मुहब्बत की मीठी ज़िन्दगी गुज़ारो !"

डरे हुए प्रेम और प्रीति को लगा, जैसे किसी ने जादू के बल से उन्हें अभय प्रदान कर दिया हो। उन्होंने एक-दूसरे को मुहब्बत-भरी नज़रों से देखा और उठ खड़े हुए। और आँखों में अपार श्रद्धा और भक्ति भर उन्होंने मुहब्बत के फ़रिश्ते की ओर ऐसे देखा, जैसे कोई पुजारी अपने इष्ट देवता की मूर्ति की ओर देखता है।

"क्यों, बेटे, टीले की सैर कर चुके ?" एक रहस्यभरी दृष्टि उन पर फेंकते हुए मुहब्बत के फ़रिश्ते ने कहा।

"अभी तो नहीं," आज्ञाकारिता के भार से सिर झुकाये आदरसूचक स्वर में प्रेम ने कहा।

"तो आओ, मैं भी उधर ही चल रहा हूँ," टीले की ओर मुड़ते हुए उसने कहा।

प्रेम और प्रीति ने एक-दूसरे की आँखों में देखा, जैसे वे एक-दूसरे से पूछना चाहते हों, 'क्यों चला जाय?'

"सच्चे प्रेमी यों नहीं डरते, बेटे!" उनको यों ठिठके देख मुहब्बत के फ़रिश्ते ने उनकी ओर मुड़कर कहा—"सच्चा प्रेमी यों फूँक फूँक कर कदम नहीं उठाता। ज़रूरत पड़ने पर वह दार को भी मंसूर की तरह अपनी प्रेयसी की बाहें समझ गले में लिपटा लेता है। आओ, आओ मेरे साथ!"

चलते-चलते उसने पूछा—"तो तुम एक-दूसरे को बहुत प्रेम करते हो न?"

"जी, हम एक-दूसरे पर जान देते हैं," प्रेम ने कहा।

"तुम लोगों के माँ-बाप को मालूम है कि तुम एक-दूसरे को इतना प्रेम करते हो।

"जी, नहीं, हम दो के सिवा यह बात किसी को मालूम नहीं।"

"मान लो, तुम्हारे माँ-बाप को यह बात मालूम हो गयी, तो?"

"तब तो ग़ज़ब हो जायगा! हम एक-दूसरे से मिल भी न सकेंगे!"

"फिर?"

"फिर न पूछिए हम पर क्या गुज़रेगी!"

"सुनूँ भी तो।"

"उस वक्त हम एक बार उनसे साफ़-साफ़ कह देंगे कि हम एक-दूसरे को बहुत प्यार करते हैं। हमारी शादी कर दो, वरना..."

"हाँ, हाँ, कहो! वरना?"

"वरना हमारी ज़िन्दगी तबाह हो जायगी! हमारी आशाएँ कुण्ठित हो जायँगी! हम पागल हो जायँगे! हम आत्म-हत्या कर लेंगे!"

"आत्म-हत्या कर लेंगे ?"

"जी," प्रेम ने गले की टाई ढीली कर कहा। लग रहा था उसे जैसे, कोई उसका गला घोंट रहा हो।

"और तुम, प्रीति ?"

"मैं...मैं भी आत्म-हत्या कर लूँगी," गले से कुछ उतारकर प्रीति बोली, जैसे उसका दम घुट रहा हो।

"आत्म हत्या!" कह कर मुहब्बत का फ़रिश्ता ज़ोर से हँसा। उसकी हँसी की गूँज से शान्त वातावरण जैसे चिहुँक-सा गया।

उसकी ओर मलकती आँखों में कुछ छिपाये-से देखते प्रेम बोला—"क्यों, आप इस तरह हँसे क्यों ?"

"हँसा तुम लोगों की आत्म-हत्या की बात पर, बेटा ! कितने भोले प्रेमी हो, तुम लोग ! तुम लोगों की शादी न हुई, तो आत्म-हत्या कर लोगे। जैसे शादी ही तुम्हारे प्रेम की मंज़िल है। क्यों ?"

"जी ! प्रेम में तड़पते हुए दो दिलों का हमेशा के लिए एक हो जाना ही तो प्रेम की मंज़िल है !"—प्रेम ने बहुत सोचकर कहा।

"नहीं, वह प्रेम की मंज़िल नहीं है। वह तो एक-दूसरे पर अपना एकाधिपत्य प्राप्त करने की चाह की मंज़िल है। वहाँ दो-दो ही रहते हैं। एक कहाँ हो पाते हैं ? जहाँ दो हैं, जहाँ दुई है, वहाँ प्रेम नहीं है! प्रेम अपनी मंजिल स्वयं है ! वह स्वयं दुई या अनेकता का अन्त है। उसके लिये कोई दूसरा नहीं ! सब वह स्वयं ही है, स्वयं ही वह सब ! मजनूँ का प्रेम प्रेम था ! उस प्रेम ने सारी सृष्टि को, मय मजनूँ के, एक कर दिया था ! वह एक लैला का रूप था ! चाँद-सूरज, फूल-काँटे, ईंट-पत्थर, यहाँ तक कि सृष्टि का ज़र्रा-ज़र्रा उसके लिए लैलामय हो गया था !"

"उँह !" मुँह में जैसे कड़वाहट भर प्रेम बोला—"आप तो फ़रिश्तों

"प्रेम !"

कार की चाल एक मिनट के लिए और भी धीमी हो गयी। फिर दो मिली हुई मुहब्बत की सन्तोष-भरी लम्बी साँसों की सिहरती हुई आवाज़। कार फिर अपनी रफ़्तार से चल पड़ी। फिर वही भरभराहट और उसमें लिपटी हुई बारीक ध्वनियाँ—

"तो आज कहाँ चलने का इरादा है ?"

"मैंने चिट में लिख तो दिया था।"

"ओह, मैं तो भूल ही रही थी ! प्रेम, जब तुम्हारे पास मैं होती हूँ, तो न जाने मेरे दिल-दिमाग़ की क्या हालत हो जाती है। हाँ, वह मजनूँ का टीला कहाँ है ?"

थोड़ी दूर और है। बड़ा ही सुरम्य स्थान है। देखकर तुम ख़ुश हो जाओगी। हाँ, उस चिट को तुमने फाड़ दिया था न ?"

"फाड़ती क्यों ? उसे कलेजे से लगा मैंने अपने चित्राधार में रख छोड़ा है।"

सड़क से दाहिनी ओर मुड़, थोड़ी दूर कच्ची सड़क पर चलकर कार रुक गयी। दोनों उतर हाथ में हाथ झुलाते चल पड़े।

"उई !" प्रीति का बायाँ पैर गड्ढे में पड़ जाने से घुटने में लचक आ गयी। वह झुककर पैर थाम चीख़कर बैठने को हुई कि प्रेम उसे हाथों पर सँभालता, परेशान-सा बोल पड़ा—"क्या हुआ ?"

पैर ऊपर उठा वह बोली—"मोच आ गयी।"

"कहाँ ?" और परेशानी ज़ाहिर करता वह बोला।

"यहाँ," घुटने पर हाथ रखते उसने कहा।

"यहाँ ?" घुटने पर हाथ रख प्रीति की आँखों की ओर आँखें उठाये वह बोला।

"हाँ।"

तो ?"

"उँह, मैं क्यों वैसी लड़की से प्रेम करता ?" कहकर उसने एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से प्रीति की ओर देखा।

"जैसे तुमने प्रीति से किया।"

"आप मुहब्बत के फ़रिश्ता होकर भी ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं ? कहीं प्रेम भी किया जाता है ? अरे, वह तो स्वयं ही हो जाता है। मेरा और प्रीति का संयोग था, सो हो गया।" कहकर प्रेम ने मुहब्बत के फ़रिश्ते की ओर ऐसे देखा, जैसे गुरू की कोई ग़लती पकड़ने के बाद विद्यार्थी उसकी ओर देखता है।

"जब संयोग की ही बात है, तो मान लो कि तुम्हारा और लता का या माधुरी का संयोग सम्भव हो जाय तब ?"

"एक दिल से एक ही को प्यार किया जा सकता है।"

"सो तो तुम ठीक कह रहे हो। अच्छा, मान लो, तुम्हारे ही-जैसा किसी और का दिल तुम्हारी प्रीति को प्यार करने लगे। तब ?"

"मेरे रहते किसका साहस है, जो प्रीति की ओर आँख उठा सके ?" आवेश में प्रेम बोला।

"शाबाश !" आँखों में कुछ छिपाते हुए उसने कहा—"अच्छा, आओ, मजनूँ के पद-चिह्न के दर्शन तो कर लो।"

सब मीनार की ओर बढ़े।

"तुम लोगों ने आगरे का ताज देखा है ?"

"जी, हाँ। वह मुमताज और शाहजहाँ के शाही प्रेम का दुनिया के प्रेमियों के लिए एक नायाब तोहफ़ा है। जैसा शाही उनका प्रेम था, वैसा ही शाही उसका अमर स्मृति-चिह्न ! जैसे चाँद के टुकड़ों से उसकी रचना हुई हो, जैसे संसार का सारा सौन्दर्य कला के साँचे में ढल जमुना के तट पर आ बैठा हो।"

"और यह मजनूँ के टीले की मीनार ?"

"उँह, यह तो वही हुआ कि कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजवा तेली ! उस शाही ताज का इस घूरे के ढेर से मुक़ाबिला ही क्या ? मालूम होता है आपने अभी तक ताज नहीं देखा है।"

"पास से तो नहीं, हाँ, दूर से ज़रूर देखा है। मुझे तो लगा कि वह काग़ज़ का एक ख़ुशनुमा फूल है। और यह मजनूँ के टीले की मीनार इन बेरों की जंगली झाड़ियों के बीच खिला हुआ एक जंगली गुलाब का फूल है। इस फूल में जो मुहब्बत की खुशबू है, उस काग़ज़ के फूल में कहाँ ?"

प्रेम कुछ बोले कि 'लैला ! लैला ! लैला !...' की कराह-भरी पुकारें जैसे कहीं दूर से आने लगीं।

अकचकाकर आवाज़ की ओर कान करके प्रेम बोला—"यह आवाज़ कहाँ से आ रही है ?"

"यह दीवाने मजनूँ की 'लैला-लैला' की पुकार है, बेटा ! यहाँ के ज़र्रे-ज़र्रे में उसकी पुकार बसी हुई है ! क़यामत की आख़िरी घड़ी तक उसकी पुकार की यह आवाज़ गूँजती रहेगी ! क्या ताज के पास भी तुमने शाहजहाँ के प्रेम की कोई पुकार सुनी है, बेटा ?"

प्रेम सहसा कुछ उत्तर न दे सका।

क्रमशः जैसे पास आती हुई फिर वही कराह-भरा 'लैला ! लैला !' की पुकारें !

"हैं, यह पुकार तो बढ़ती ही जा रही है ! यह गूँज नहीं मालूम होती। यह तो जैसे सचमुच कोई 'लैला-लैला' पुकारता हमारी ही ओर बढ़ा आ रहा है। यह मजनूँ का भूत तो नहीं ?" कहते-कहते प्रेम के रोंगटे खड़े हो गये। काँपते हुए हाथ से ही उसने प्रीति की बाँह पकड़ उसे अपनी ओर खींच लिया। प्रीति के दिल की धड़कन बढ़ गयी।

"हो सकता है, बेटा। कदाचित मजनूँ की रूह आज फिर अपनी लैला के फ़िराक़ में निकली हो। पर तुम इस तरह घबरा क्यों रहे हो? सच्चे प्रेमी यों नहीं घबराते, बेटा!"

"वह, वह देखो! कोई पागल 'लैला-लैला' पुकारता हमारी ही ओर बढ़ता आ रहा है! प्रीति, प्रीति! चलो, चलो! हमें कोई ख़तरा मालूम पड़ता है!" काँपती हुई आवाज़ में कहता प्रेम मुड़ा।

पास ही मीनार की बग़ल से एक डरावनी छाया हाथ में झलझल करती कटार लिये, ख़ून-सी लाल-लाल आँखों से गुरेरती 'लैला-लैला' चीख़ती बढ़ी।

मुहब्बत के फ़रिश्ते ने ज़ोर से एक अट्टहास किया।

थर-थर काँपते पैरों से प्रेम और प्रीति भागें-भागें कि उस डरावनी छाया ने ज़ोर की एक थर्राती हुई चीख़ की और लपककर प्रेम की छाती की ओर कटार बढ़ाती, प्रीति का हाथ अपने दूसरे हाथ से पकड़ ख़ुशी में चीख़ उठी—"मेरी लैला! मेरी लैला!" प्रेम के मुँह से एक चीख़ निकल गयी। वह हड़बड़ाकर प्रीति का बाज़ू छोड़ ज़ोर से भाग खड़ा हुआ।

छाया से हाथ छुड़ाने की कोशिश में छटपटाती प्रीति 'प्रेम! प्रेम!' पुकारती बेहोश होकर उस छाया की बाहों में आ रही।

मुहब्बत का फ़रिश्ता थोड़ी दूर तक प्रेम का पीछा करने का नाट्य कर ज़ोर से हँसता हुआ पुनः मीनार के पास लौट आया।

सड़क से जब कार की भरभराहट की आवाज़ आयी, तो वह डरावनी छाया बोली—"लो, सँभालो प्रीति को। देख लिया न इनके प्रेम का नाटक!"

"हाँ," प्रीति को सँभालते वह बोला—

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिलका

जो चोरा तो एक कतरए-ख़ून निकला।"

न जाने कहाँ से बादल का एक सफ़ेद टुकड़ा उड़ता-उड़ता आ चाँद पर छा गया। उस धुँधली चाँदनी में प्रीति को उठाये वे दोनों सड़क की ओर जा रहे थे।

दूसरे दिन सुबह चाय के समय प्रीति के पिता, उनके रात वाले वह मित्र, अनीता और उसकी माँ चाय पर प्रीति के इन्तज़ार में बैठे हुए थे।

देखते-देखते जब दस मिनट बीत गये, तो पिता ने कहा—"अनीता, ज़रा देख तो, बेटी, प्रीति कहाँ रह गयी। चाय ठंडी हो रही है।"

अनीता उठ प्रीति के कमरे में गयी, तो देखा, प्रीति अस्त-व्यस्त-सी तकिये में मुँह गड़ाये सिसक रही थी। उसके सिर के बाल बदहवास तौर पर इधर-उधर बिखरे हुए थे। सिल्क की सुफ़ेद साड़ी में कितनी ही शिकनें पड़ी हुई थीं।

"जीजी! जीजी!" घबराकर अनीता प्रीति के पलंग की ओर चिल्लाती हुई लपकी।

प्रीति अकचकाकर सिर उठा, आँखों को पोंछ उठ बैठी।

अनीता उसके गले में बाहें डाल उतावली-सी बोली—"क्यों, जीजी, तुम रो क्यों रही थीं?"

"नहीं तो," भींगे गले से कहकर प्रीति अपने बालों को उँगलियों से ठीक करने लगी, खोयी-खोयी ही-सी।

"वाह, अभी तो तुम सिसक रही थीं! मैं कहूँ..."

"कुछ नहीं, अनीता, मैं ठीक हूँ, कह उसने आँचल सिर पर ठीक से रखा और उठकर खड़ी हो गयी।

"तो चलो चाय पर। पिता जी कब से इन्तज़ार कर रहे हैं।" उसके गले में फिर बाहें डाल झूलती-सी अनीता बोली।

"तुम चलो, मैं आ रही हूँ ! ज़रा कपड़े बदल लूँ।"

अनीता चली गयी। प्रीति तौलिया उठा बाथ की ओर बढ़ गयी।

प्रीति जब कपड़े बदल, सज-सँवर अपने कमरे से निकली, तो बहुत कोशिश की कि रोज की तरह उसके ओठों पर स्वाभाविक मुस्कान आ जाय। पर जैसे वह स्वय को ही कुछ बदली-बदली-सी लग रही थी। मन में तो आया कि आज वह चाय पर न जाय, पर ऐसा करने से पता नहीं, वे लोग क्या सोचने लगें। फिर अनीता ने उसे रोते देख भी लिया है। कहीं वही न कुछ कह बैठे। निदान किसी तरह अपने को बश में कर वह चाय पर जा बैठी।

उसके बैठते ही पिता बोल पड़े—"क्यों, बेटी, तबीयत तो ठीक है न ? बड़ी देर कर दी !"

"जी, ज़रा कपड़े बदल रही थी," आँखें नीचे किये ही कह दिया प्रीति ने। और अपने को व्यस्त करने के लिए उसने चाय की प्याली उठा ली।

"क्यों, कुछ खाओगी नहीं ?" पिता ने फिर पूछा।

"नहीं, आज कुछ खाने को जी नहीं करता," कहकर उसने प्याली ओठों से लगा ली।

"अच्छा, अच्छा चाय ही पी लो।" कहकर पिता ने अपने मित्र की ओर कनखियों से देखा। उनके मित्र ने ओठों में ही मुस्करा दिया।

चाय की कुछ चुस्कियाँ ले पिता ने फिर कहा—"सुनती हो, प्रीति की माँ, रात मैंने एक अजीब सपना देखा।"

"क्या देखा ?" उत्सुक-सी प्रीति की माँ मुँह से प्याली हटाते बोलीं।

"देखा कि," प्रीति की ओर एक दबी नज़र फेंक वह बोले— "रात के बारह बजे एक चोर मेरे घर में घुस आया है। सब को सोया देख वह प्रीति के कमरे में घुसा और उसे गोद में उठा कमरे से बाहर हुआ

कि मैंने उठकर उसकी कलाई पकड़ ली।"

"सच, पिता जी ! आपने उसकी कलाई पकड़ ली !" भोली अनीता आश्चर्य भरी आँखों को नचाती बोल पड़ी।

"हाँ, बेटी ! फिर तो वह प्रीति को छोड़कर भाग खड़ा हुआ। मैं चोर-चोर चिल्ला पड़ा कि मेरी नींद खुल गयी।"

प्रीति का मन न जाने कैसा होने लगा। वह उठने को हुई कि पिता फिर बोल पड़े—"क्यों, बेटी, चाय पी चुकी ?"

"जी, ज़रा आज मुझे कालेज का अधिक काम करना है।" कह वह सिर झुकाये ही उठ खड़ी हुई।

"अरे, थोड़ी देर तो और बैठो, बेटी !"

प्रीति बैठ तो गयी, पर उसके दिल में जैसे हौल-सा हो रहा था।

"क्यों, प्रीति की माँ, तुम चुप कैसे हो गयी ?" पिता ने उनकी ओर देखते कहा।

"तुम्हारा सपना सुन मुझे तो चिन्ता हो गयी। कहीं मेरी बेटी पर कोई आफ़त आने वाली न हो।"

"अरे, तुम तो बाबा आदम के ज़माने की औरतों की तरह बातें करने लगीं ! जानती हो, वह चोर कौन था ?"

"कौन था वह ?" आँखें फैला सहमी-सी वह बोलीं।

"वह...वह," प्रीति की ओर आँखें कर ओठों में ही मुस्कराकर बोले वह—"वह प्रेम था !"

"पिता जी !" प्रीति सिर उठा चीख़-सी पड़ी।

"बेटी, तुम यों घबरा क्यों रही हो ? और सुनती हो प्रीति की माँ," उनकी ओर मुड़कर कहा उन्होंने—"मैंने सोचा है कि प्रीति की शादी प्रेम से कर दी जाय। यह उसे बहुत चाहती है।"

"नहीं, मैं उससे नफ़रत करती हूँ ! मैं उसका मुँह तक देखना नहीं

चाहती ! वह...वह..." अत्यधिक आवेश के कारण उसके ओठ काँपकर रह गये।

"ऐसा क्यों, बेटी ?" धीरे से पिता ने पूछा।

"वह...वह...रात मुझे भूतों के बीच छोड़कर भाग गया था !" अनियन्त्रित-से ही प्रीति के मुँह से ये शब्द निकल पड़े; जैसे वह ख़्याल ही उसके दिमाग़ की ऊपरी सतह पर चक्कर लगा रहा था और उसे मति भ्रम-सा हो गया था।

"भूतों के बीच छोड़ गया था ! तो तुम फिर यहाँ कैसे आयीं ?" कृत्रिम आश्चर्य प्रकट करते वह बोले।

"हाँ, मैं कैसे आयी ?" चकरायी-सी प्रीति ने जैसे स्वयं से पूछा।

"यह तुम लोग क्या पागलों-सी बातें कर रहे हो ?" प्रीति की माँ जैसे कुछ न समझ प्रीति की पागल-सी आँखों में देखती हुई बोलीं।

मित्र ने अपनी उँगली से पिता की बगल में खोदकर आँखों से कुछ इशारा किया।

पिता जेब से एक चिट निकाल, प्रीति की ओर बढ़ाते बोले—"इसे तुम पहचानती हो ?"

"यह आपके हाथ कैसे लग गया ? ओफ़ !" प्रीति की आँखों के सामने की सारी चीज़ें जैसे चक्कर में आ गयीं।

"कल शाम को एक जगह भेजने के लिये तुम्हारे एक चित्र की ज़रूरत थी। तुम्हारा चित्राधार अनीता से मँगवाया, तो उसमें यह चिट पड़ा मिला। उसे पढ़ा, तो चित्र भेजने की बात भूल गया। उसी वक्त अपने इस जिगरी दोस्त को बुला भेजा। इससे राय ली, तो यह तय हुआ कि तुम लोगों के प्रेम-नाटक में हम भी अपना एक दृश्य जोड़कर देखें कि क्या होता है। जो हुआ, सो तुम्हें मालूम है। यह मेरे वही मित्र हैं, जिन्होंने मुहब्बत के फ़रिश्ते का अभिनय किया और पागल

मजनूँ स्वयं मैं बना था।"

"पिताजी!" एक चीख़ मार, मेज़ पर सिर पटक प्रीति बिलख-बिलखकर रो पड़ी।

पिता उठकर उसके पास जा, उसके सिर पर हाथ फेरते स्नेह सने लहजे में बोले—"बेटी, मुझे ख़ुशी होती अगर प्रेम मेरी कसौटी पर सच्चा उतरता। मगर वह तो झूठा था। वक़्त पर उसकी कलई खुल गयी, वरना न जाने उसका बनावटी प्रेम तुम्हें क्या-क्या रंग दिखाता। बेटी, ख़ुश होओ कि शुरू जवानी में ही तुम्हें एक ऐसा सबक़ मिल गया! इस नकली प्रेम और शुरू की जवानी के दिलफ़रेब खेलों ने कितनी ही मासूम कलियों को खिलने के पहले ही मसलकर फेंक दिया है! मैं नहीं चाहता कि मेरी बेटी भी यों जवानी के अन्धे हाथों एक खिलौना बन हमेशा के लिए टूट जाय!...प्रीति की माँ, अब तुम इसे सँभालो। मैं अपने मित्र को विदा कर दूँ। इन्हें देर हो रही है।"

माँ और अनीता प्रीति की ओर मुस्कराती हुई बढ़ीं। पिता और उनके मित्र मुस्कराते हुए निकल गये।

●

कदम के नीचे

नित नेमके अनुसार सबसे पहले, पोखरे पर गरीब साहु पहुँचे। मर्दाने घाट के ऊपर की सीढ़ी पर चुनियायी हुई धोती और चने की पोटली रख, उन्होंने नीचे उतरकर लोटे में पानी भरा और फ़राग़त होने भीटे की ओर पाँव बढ़ाया ही था कि कदम के पेड़ के नीचे से लटपटाती हुई आवाज़ आयी—पा...

साहुजी के हाथ से लोटा छूट पड़ा। वह भय से सन्न-से होकर सूखे गले से 'हनूमानजी' का उच्चारण करते, फिर सीढ़ी पर आकर काँपती टाँगों खड़े हो गये।...अँधेरे का झीना पर्दा काँप रहा था। कहीं कोई नज़र न आ रहा था। साहुजी की इस स्थिति से अनभिज्ञ अपने नित नेमके अनुसार दूर आमों के बाग में बस एक भुचेंग 'ठाकुरजी, ठाकुरजी' की पुकार उठा रही थी। उसकी यह सदा की प्यारी, मीठी, एकाकी और भक्ति-भरी स्वर-लहरी भी आज जैसे एक भयावह, व्यंग-भरी चीख हो उठी हो। साहुजी को वहाँ एक क्षण भी रुकना जान खतरे में डालना लगा। वह सहमी नज़र कदम के पेड़ की ओर टिकाये ही,

पहले धीरे-धीरे, फिर तेज़ी से लम्बे-लम्बे डग डालते और फिर दौड़कर घाट के दाहिनी ओर खड़े मन्दिर के द्वार तक पहुँचे और काँपते हाथों से ज़ोर से, ज़ंज़ीर खड़खड़ाकर, डरी हुई आवाज़ में पुकारने लगे—"पुजारी जी ! पुजारी जी।...

भगवान की इस बेला में भगवान के भक्त पुजारी जी कदाचित ध्यान में लीन आत्मा-परमात्मा की रासलीला में विभोर थे। एक संसारी जीव की पुकार उन तक कैसे फटकती ?

लेकिन ससारी जीव के प्राण संकट में थे। यों द्वार खुलता न देख, वह पागल की तरह, ताबड़तोड़ दोनों हाथों से किवाड़ों को पीटने लगे।

आखिर अन्दर से विघ्न-आहत, क्रुद्ध आत्मा की अलसाहट में झुँझलायी अकुलायी आवाज़ आयी—"केवर हऽ रे, भजन में भंग करने आ गया ?"

सूखी चीख़ में साहुजी बोले—"हम गरीब साहु ! जल्दी किवाड़ खोलीं, पुजारी जी !"

धड़ाम से दरवाज़ा खुला। अँचरा सँभालते, लंगोट की पूँछ खोंसते हुए पुजारी जी बोले—"का हऽ, साहुजी ? किवाड़ काहे को तोड़ डाल रहे ?"

अन्दर होते हुए, घिघियाकर साहुजी बोले—"भू-भू...पुजारी... जी...कदम के नीचे....." और वह पाँवों की कँपकँपी न सँभाल पाने के कारण ज़मीन पर बैठ गये।

फटाक से किवाड़ों को लगा पुजारी जी ने किल्ली ठोंक दी। फिर अपने सहमी हुई आवाज़ को संभाल कर बोले—"वह भूत नहीं, डीह बाबा होंगे। हमसे तो कई बार रात-बिरात उनसे मुलाक़ात हो चुकी है। बड़े भले हैं, किसी को कोई नुक़सान नहीं पहुँचाते। नाहक़ आप डर गये, साहुजी।"

धीरे-धीरे जान में जान आयी। साहुजी धोती झाड़ते हुए उठकर बोले—"वो...वो...पानी माँग रहे थे, पुजारी जी!"

—"तो पिला देते। फिर उनसे आप जो वर माँगते...लेकिन ये काहे को होने लगा? कहा है न 'तादृशी जायते बुद्धि यादृशी भवितव्यता।'...साहुजी, ठीक-ठीक बताइए, कितना धन हड़पा था दामाद का? सुना जाता है, जिसके-जिसके घर वह धन गया, उसका-उसका सरबनास हो गया। बेचारी निपूती विधवा का धन। वो एक मन्दिल बनानेवाली थी, साहुजी।"

"ये मन्दिर तो हमारे पुरखों का ही बनवाया हुआ है, पुजारी जी। आज जमाना खराब हो गया है, तो जो न लांछन लोग लगा लें। लेकिन सबै दिन जात न एक समान, हमारे भी दिन कभी लौटेंगे, पुजारी जी।...जंगली महराज ने कहा था, सवा साल सबसे पहले असनान-पूजा करके, सवा सेर चना रोज़ हनुमान जी की सेना को खिलाओ, क़िस्मत खुल जायगी। अब थोड़े ही दिन और रह गये हैं।"

"कौन जाने, हनुमानजी ही कोई रूप धर के परीक्षा लेने आये हों। बनिया का जीव धनिया बरोबर! आपने आज एक अवसर खो दिया, साहुजी।"

—"अब का कहें, पुजारी जी? सुना तो हमने भी है, कि कभी-कभी ऐसा भी होता है। पुजारी जी, मेहरबानी करके आप जरा साथ देते तो चलकर देखा जाता। और कुछ नहीं तो हमारी धोती, चना, लोटा...आपसे का छुपा है, पुजारी जी? आजकल जैसे दिन कट रहे हैं, हमी जानते हैं। फिर हमारे नेम का भी सवाल है, आखिरी दिनों में आज टूट गया, तो फिर वही सवा साल का चक्कर..."

"हमारे जाने से सब खेल बिगड़ जायगा। फिर हमारा भी नेम एगारह हजार एगारह राम-नाम जप लेने के बाद बिछौना छोड़ने का

है। आज आपके कारन बीच में उठना पड़ा। फिर वही एगारह हजार एगारह का चक्कर है। आपको जाना हो तो जाइए, हम किवाड़ बन्द करके आसन जमायें।"

साहुजी ने साहस बटोरकर किवाड़ ज़रा खोलकर बाहर झाँका। अंधेरे का हल्का रंग अभी बरस रहा था। भुचेंग उसी तरह 'ठाकुरजी-ठाकुरजी' पुकारे जा रही थी। पोखरे में किसी बड़ी मछली के छपाक से उछलने की आवाज़ आयी। पचास वर्ष के साहुजी के लागर शरीर में एक कँपकँपी छूट गयी। बोले--"मालूम देता है, आज कुछ जियादे सबेरे उठ गये। पुजारी जी, आप अपना धरम-धियान करें। हम थोड़ी देर बाद चले जायेंगे। अभी समय है।"

नित नेम के अनुसार पोखरे पर पहुँचने वाला दूसरा व्यक्ति मोतिया की माई थी। पचास वर्ष की यह बूढ़ी मेहतरानी चार जवान बेटों और बहुओं को खड़ा करके गिरस्ती से थोड़ी छुट्टी पाने की हक़दार हो गयी थी। इस छुट्टी का उपयोग थोड़ा पूजा-पाठ में करके वह अपना परलोक सुधार लेना चाहती थी। मुँह-अँधेरे उसके पोखरे पर स्नान करने आने का एक कारण था। पोखरे के जनाने घाट पर नहाने का उसे अधिकार न था। मेहतरों, दुसाधों, चमारों, आदि नीच जाति वालों को बँधे पक्के घाटों पर नहाने की मनाही थी। सो, बेचारे इधर-उधर कच्चे घाटों पर नहाते, जहाँ, ठेहुन-भर कीचड़ बारहों महीने बजबजाता रहता था। दो साल पहले एक दिन इसी कीचड़ में लुढ़ककर बेचारी मोतिया की माई अपना बायाँ घुटना मुरका चुकी थी। फिर इस कीचड़ में नहाना-न-नहाना बराबर था। मर्द तो दूर गहरे पानी में जाकर नहा लेते। औरत जात क्या करें। फिर अब जब कि मोतिया की माई का मन कुछ राम में रमकर पवित्रता का चाहक हो गया था, वैसे कुघाट नहाने से उसे घिन लगती। निदान वह मुँह अंधेरे ही जल्दी-फल्दी

जनाने घाट पर ही नहा लेती। फिर जल्दी-ही-जल्दी एक लोटा पानी मन्दिर के बन्द किवाड़ों की चौखट पर गिरा, फूल अक्षत और एक पैसा अपने मन के राम पर चढ़ा, सर नवाकर घर वापस आ जाती।

जनाना घाट मरदाने के बायीं ओर था। मोतिया की माई उस घाट की ओर पनपनाती जा रही थी कि कदम के पेड़ के नीचे से लटपटाती हुई आवाज आयी—पा...

मोतिया की माई ठिठक गयी। सहमकर बोली—"केहउ-अउ ए बाबू!" और आँखें फाड़कर कदम के नीचे देखा तो अंधेरे में एक बड़ा काला धब्बा जड़ के पास पड़ा था।

मोतिया की माई अपनी मीठी बोली के लिए गाँव भर में मशहूर थी। किसी को भी वह 'बाबू-भैया' के नीचे नहीं कहती। उसके होठों से सदा मधु टपकता। जाने उसके हृदय-भंडार में कितना अमृत भरा था, जो बिना किसी अन्तर के सदा सब को लुटाने पर भी चुकने का नाम नहीं लेता। गाँव में ऐसा कोई नहीं, जो कह दे कि कभी भी उसने मोतिया की माई के मुँह से एक भी कुशब्द सुना हो।

कदम के नीचे से फिर वही आवाज़ आयी—पा...

मोतिया की माई सहमे क़दमों से उधर बढ़ी। एक आदमी चारों खाने चित्त पड़ा था। ज़रा दूर ही खड़ी होकर वह बोली—"काहे रउआ ए तरे पड़ल बानी, ए बाबू?"

आदमी ने बिना कोई हरकत किये वैसी ही सूखी, लटपटाती आवाज़ में कहा—"एक घूँट पानी पिला दे, माई।"

"हमरा हाथ के पानी रउआ पीयब? हम मेहतर हवीं, ए बाबू।" मोतिया की माई ने सीधे कहा। उसके जी में आया कि पास जाकर देखे, क्या बात है, लेकिन संस्कारवश पास जाने से हिचक गयी।

"पानी"—फिर आवाज़ आयी।

"मोतिया की माई ने आदमी के खुले मुँह के बाहर जीभ देखी, तो उसके सहज ज्ञान ने तुरन्त अपना काम किया, ऐसे में जात-पाँत नहीं बरायी जाती। अपनी लुगरी वहीं रखकर, लोटा लिये, वह दौड़कर मरदाने घाट से ही पानी लाने लपकी, तो ऊपर की सीढ़ी पर किसी कपड़े पर उसका पाँव पड़ गया। झुककर देखा तो चुनियायी हुई धोती! उसने सोचा, कहीं किसी नहाने आने वाले को साँप ने तो नहीं छू लिया, भीटे में कितने जहरीले साँप हैं। हे राम!

उजेला धपने लगा था। मोतिया की माई ने अपने लोटे से पानी की धार आदमी के मुँह पर गिराते समय उसके मुँह पर फेन न देखकर सर से ख़ून बहते देखा, तो साँप की शंका जाती रही और एक दूसरी शका उठ खड़ी हुई।

कुत्ते की तरह जीभ से ही थोड़ा पानी चाटकर आदमी ने थिराने के लिए अपना मुँह हटाया, तो धार रोककर, वहीं बैठकर, मोतिया की माई छोह से भरकर, उसके सर पर धीरे से हाथ रखकर बोली—"ई रउरा सरवा से रक्त काहे बहSता? कहीं गिर-उर तSना परली हँ?"

आदमी आँखें मूँदे, 'आह-आह' करता, हफर-हफर हाँफने लगा।

भुचेंग ने अपनी प्रभाती समाप्त कर दी थी। पौ की पाली आभा पूरब से झाँकने लगी। नित,नेम में विलम्ब होते देख चारों ओर से बानरी सेना चीं चाँ करती हुई, गरीब साहु को पुकारती घाट पर मँडराने लगी।

कहरते हुए ही आदमी ने कहा—"तू मोतिया के माई हऊ का? बोलिया तS ओही-खाने लागSता।"

मोतिया की माई ने आँखें फाड़कर आदमी का चेहरा देखा और चीख-सी पड़ी "रमायन बाबू!" और छन में ही सब कुछ समझ उसे सनाका हो गया। हाय-हाय करती उसने रमायन का सर बच्चे की तरह

उठाकर अपनी गोद में रख लिया और सुसुक-सुसुक कर सब बातें पूछने लगी और कहर-कहर के रमायन अपनी गाथा सुनाने लगा।

घास पर मानुस की आहट पाकर, भय-मुक्त होकर जब गरीब साहु मन्दिर से निकल कर घाट पर आये, तब तक बाँड़ा सेना-नायक किला फतह कर चुका था। वह सीढ़ी पर इतमिनान से बैठा अँगोछे की गठरी को दाँतों से फाड़, दोनों हाथों से ताबड़तोड़ चने गालों में भरे जा रहा था और उसके भाई-बन्द उसे चारों ओर से घेर (पास फटकने की हिम्मत उनमें नहीं थी) छिटके हुए दानों को लपक-लपककर, बाँड़ा की घुड़की के बावजूद, बीन रहे थे और साथ ही चीं-चीं कर जैसे अपने नायक के ज़ुल्म का विरोध कर रहे थे कि वह अकेले ही सब हड़पे जा रहा है।

गरीब साहु के तो होश ही उड़ गये। वह जहाँ-के-तहाँ थमकर शोर मचाने लगे। विद्रोही बाँड़ा नायक के पास फटकने की उनमें हिम्मत नहीं थी। अजब बात थी कि रोज़-रोज़ का परचा बाँड़ा आज साहु जी की ओर देख-देखकर खखुआ रहा था।

वहाँ हंगामा मच गया था। रमायन के घायल होने की खबर पा सारा गाँव ही टूट पड़ा था। रमायन की टाँगों, कन्धों और सर पर लाठियाँ पड़ी थीं। सर खुल गया था।

किसी को कुछ पूछने-ताछने की ज़रूरत नहीं थी। जैसे सब-कुछ पहले ही से मालूम था। कौन नहीं जानता था कि रमायन की जान हर घड़ी खतरे में है!...ज़मींदारी टूट गयी थी, लेकिन गाँव का ज़मींदार इसे स्वीकार करने को तैयार न था। उसने कई बार ऐलानिया कहा था जो हलकी मुठिया जो थामता है, वही भूमि का दरद जानता है। सरकार से हमें जो हक़ मिला है, उसे हम क्यों छोड़ें?

कई बार ज़ोर लगाकर ज़मींदार आज़मा चुका था। कहीं से पेश

पाना नामुमकिन हो गया था। रमायन की अगुआई में सब किसान सम्मत हो गये थे। किसी भी किसान के खेत में ज़मींदार गाँव अटकाने की कोशिश करता, तो सभी किसान एक साथ ही माटों की तरह जूझ पड़ते थे।

भीड़ पागल हो रही थी। मर्दों की आँखों से लुत्तियाँ झर रही थीं। औरतें आँखों से लोर टपकाती सराप दे रही थीं। रमायन की माँ और औरत उसके पास बैठी छाती पीट-पीटकर रो-चिल्ला रही थीं और मोतिया की माई रमायन का सर गोदी में लिये, आँखों से आँसू चुआती कह रही थी, "अइसन रहजनी त हम देखबे न कइलीं, ए दइबा! अरे बाप-रे-बाप! ए तरे केहू ढाडा देके केहू के लउर से मारे ला!..." फिर वह आप ही समझाकर लोगों को बताने लगी कि हमारे लाल को कल शहर से लौटने में देर हो गयी। पोखरे से हाथ-मुँह धोकर निकला ही था कि ऊपर-नीचे से एक साथ ही लाठियाँ बरस पड़ीं। हमारा पूत वहीं गिर पड़ा, तो ऊपर से फिर लाठियाँ पड़ीं। मोतिया की माई का यह स्वभाव-हरण अद्‌भुत था, लेकिन उसकी ओर ध्यान का अवसर किसी के पास न था। मोतिया की माई के अन्दर रह-रहकर जैसे कुछ उबल रहा था। वह कहे जा रही थी—"तीन रहलें, भइया, तीन! हमार बच्चा बतावत बा।..."

पास के घर से खटोला लाया गया। लादकर रमायन को लोग थाने और अस्पताल ले चले। पीछे-पीछे भीड़ चली।

तब जाकर पुजारी जी की समाधि टूटी। बाहर आकर उन्होंने नित नेम के अनुसार चौखट के पास देखा। उन्हें आश्चर्य हुआ कि आज वहाँ न फूल-अक्षत थे, न पैसा, उनकी आज की बोहनी बिगड़ गयी। वह गरीब साहु को कोसने लगे कि आज राम की बेला में जो उसका मुँह देखा है, भगवान कुशल से दिन बितायें! और गरीब साहु फटे हुए

अँगोछे को, रोते हुए उन बदमाशों को कोसे जा रहे थे कि उन्हें रमायन को मारने के लिए यही जगह मिली ! उनकी साल-भर की तपस्या अकारथ चली गयी फिर सवा साल का चक्कर...

एक आदमी और था, जो मंच पर नहीं आया, लेकिन पर्दे के पीछे एक हवेली के ओसारे में वह उसी तरह चक्कर काट रहा था, जैसे पिंजड़े में बन्द एक बाघ !

●

आँख की पट्टी

"हाय ! इसका तो मुझे ख्याल ही न रहा ! यह कैसी पट्टी मेरी आँखों पर बँध गयी है !"

नर्स की यह बात जब भी मुझे याद आती है, मेरी आत्मा काँप उठती है और वह सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने आ जाता है।

इससे पहले जीवन में अस्पताल से कभी मेरा पाला न पड़ा था। अस्पतालों के सामने या सड़कों पर इक्की-दुक्की या टोली में आती-जाती नर्सों को देखकर मुझे 'लालटेनवाली महिला' की याद आ जाती थी। ठीक याद नहीं कि सातवीं या आठवीं में, या कि नवीं-दसवीं में अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तक में मैंने 'लालटेनवाली महिला' की संक्षिप्त जीवनी पढ़ी थी, लेकिन 'लालटेनवाली महिला' की वह बात आज भी मेरे दिमाग़ में बिलकुल ताज़ी-सी है कि कैसे जब हाथ में लालटेन लटकाये वह महिला बिस्तर पर पड़े रोगियों के हाल से गुज़रती थी, तो रोगी अपने तकियों पर पड़े उसके साये को स्नेह, श्रद्धा, आदर और भक्ति से भर कर चूमते थे।... तभी से अनजाने ही इस नर्स-संस्था के प्रति मेरे

मन में अपार स्नेह, श्रद्धा, आदर और भक्ति बस गयी थी। एक तरह से यह भावना मेरे संस्कार का एक अंग ही बन गयी थी। किसी भी नर्स में मुझे वही 'लालटेनवाली महिला,' सेवा, स्नेह और त्याग की प्रतिमूर्ति, दिखायी पड़ती थी, और उसके सामने श्रद्धा और भक्ति से मेरा सिर झुक जाता था। ऐसा लगता था, जैसे यह कोई श्वेतवसना पवित्र आत्मा है, जो रोगी मानवता की सेवा-शुश्रूषा के निमित्त ही धरती पर अवतरित हुई है।...लेकिन उस दिन जैसे एक तिलिस्म टूट गया। जैसे अचानक उस महिला के हाथ से गिरकर लालटेन पत्थर के फ़र्श पर चूर-चूर हो गयी हो और रोशनी गुल हो गयी हो।...

दिसम्बर का महीना था। एक सुबह अख़बार में आँख-अस्पताल की एक सूचना पढ़कर मैंने देहात पिताजी को बीस से पहले ही आ जाने के लिए पत्र लिख दिया। कई वर्षों से मेरे वृद्ध पिता मोतियाबिन्द से पीड़ित थे। पास के क़स्बे में 'आँख-खोलवा' डाक्टरों से कई बार वह अपनी आँखें खोलवाकर हार मान चुके थे। आँख खोलवाने के बाद कुछ दिन तक तो ऐसा लगता जैसे आँखें बिलकुल ठीक हो गयीं, लेकिन फिर जल्दी ही जाला चढ़ने लगता और थोड़े दिनों में ही दुनिया पहले ही की तरह धुँधली हो जाती। दशहरे की छुट्टी बिताकर जब मैं शहर अपने काम पर आने लगा तो उन्होंने कहा था, "यहाँ तो जाने कैसे 'आँखखोलवा' आते हैं। रोशनी दिखाकर, ठगकर चले जाते हैं। तुम शहर में रहते हो, वहाँ एक-से-एक बढ़कर आँख के डाक्टर होंगे। एक बार किसी अच्छे डाक्टर से आँख खोलवा देते, तो जो थोड़ी-बहुत ज़िन्दगी है, उसे देख-सुनकर काट लेते। वर्ना तुम तो जानते हो, आँख है तो जहान है, नहीं तो भगवान मौत दे दे, वो बेहतर। किसी का हाथ पकड़ कर आख़िर कोई कहाँ तक चलेगा?"

मैंने उन्हें आश्वासन दिया था कि जाते ही पता लगाकर लिखूँगा।

लेकिन यार-दोस्तों से जब पता लगाया तो मालूम हुआ कि यहाँ के आँख-अस्पताल का डाक्टर तो 'आँखफोड़वा' नाम से मशहूर है, जाने कितनों की आँखें ले चुका है। हाँ, हर साल दिसम्बर-जनवरी में एक बार यहाँ के अस्पताल में कोई-न-कोई मशहूर डाक्टर एक-दो दिन के लिए आता है। उसकी सूचना अखबार में छपती है।

वही सूचना थी। २० को नाम दर्ज कराने थे, २१-२२ को आँखों की जाँच होने वाली थी और २३ को आपरेशन।

छोटे भाई के साथ पिताजी २० की सुबह आ गये। मैं अस्पताल जाकर उनका नाम दर्ज करवा आया। वहाँ ऐसी भीड़ थी, जैसे कोई मेला लगा हो। अस्पताल के आँगन में कई बड़े-बड़े टैंट लगे हुए थे। मालूम हुआ कि अस्पताल में सौ रोगियों के लिए ही जगह है, बाक़ी को या तो बरामदों में या टैंटों में जगह दी जायगी। चार दिन से लगाकर दस दिन तक आपरेशन वाले रोगियों को यहाँ रुकना पड़ेगा। जिन्हें अस्पताल में जगह नहीं मिलेगी उन्हें अपनी चारपाई और बिस्तर वग़ैरा भी साथ लाना पड़ेगा। कल यह मालूम हो जायगा कि किस रोगी को कहाँ जगह मिली है।

दूसरे दिन पिताजी को लेकर मैं अस्पताल पहुँचा, तो वहाँ पहले ही से रोगियों की क़तारें लगी हुई थीं। कई डाक्टर अलग-अलग जगहों पर एक-एक मेज़-कुर्सी लगाये रोगियों की जाँच कर रहे थे और पर्चे और ज़रूरी हिदायतें दे रहे थे।

पिताजी को एक क़तार में खड़ा करके मैं यह पता लगाने लगा कि उन्हें कहाँ जगह मिली है। जनरल वार्ड के बोर्ड पर टँगी सूची में उनका नाम न मिला, तो टैंटों और बरामदों की सूची देखने लगा। उन्हें फाटक के पास एक टैंट में जगह मिली थी। फाटक पर रोगियों के अभिभावकों की भीड़ थी और उनमें एक तरह की उत्तेजना फैली हुई थी। ये सब

अधिकतर शहर के बाहर के लोग थे, दूर-दूर से आये हुए थे और कपड़ों से ग़रीब मालूम पड़ते थे। इनके अधिकतर रोगियों को बरामदों और टेंटों में ही जगह मिली थी। उनका कहना था कि अब हम कहाँ से चारपाई वग़ैरा लायें? शहर के लोगों के तो यहाँ घर-बार हैं, कुछ भी इंतज़ाम करना उनके लिए मुश्किल न होता। उन्हें टेंटों में भी जगह मिल जाती तो वे सब इंतज़ाम कर लेते। लेकिन यहाँ तो सरासर धाँधली है, किसी की सुविधा-असुविधा का कोई ख़याल ही नहीं।

जाड़ा शिद्दत का पड़ रहा था। पछुवा हवा झकझकाकर बह रही थी। टेंटों और बरामदों में कम कपड़े वालों को जो तकलीफ़ होगी, इसका भी सबको अहसास था। लेकिन कौन किससे कहे? वहाँ कोई किसी की सुननेवाला न था। सब इन्तज़ाम हो चुका था। इसमें कोई तबदीली अब मुमकिन न थी।

एक बजते-बजते डाक्टर उठ गये। क़तारों में खड़े आधे से ज़्यादा रोगी बे-जाँच के ही रह गये। पिता जी तो अभी बहुत पीछे बैठे थे। बाक़ी लोगों की जाँच कल होगी।

कितने लोगों का कितना वक़्त ख़राब हुआ। क्या यह अच्छा न होता कि आज आधे ही रोगियों को बुलाया गया होता? सब बुदबुदाते हुए फाटक से बाहर जा रहे थे।

दूसरे दिन किरन निकलने के पहले ही हम पहुँच गये। डर था कि कहीं कुछ लोग रह ही न जायँ।

पिताजी का आपरेशन का केस था। रात को जुलाब लेने और कुछ न खाने की हिदायत लेकर वह कमरे से बाहर निकले, तो कुछ दुखी-से मालूम हुए। फाटक तक मैं रह-रहकर उनका मुँह निहारता रहा। वह बिलकुल ख़ामोश थे। आख़िर रिक्शे पर बैठ गये, तो मैंने पूछा, "क्या बात है? आप कुछ....."

"यह डाक्टर तो बड़ा बद मालूम देता है," आँखें झुकाये हुए, कुछ क्षुब्ध-से वह बोले।

"क्यों ? कुछ कहा क्या ?"

"पूछता था, कितनी तम्बाकू खाते-पीते हो, बुड्ढे ?·····मैं तो इसके हाथ से आपरेशन नहीं कराऊँगा। जिसकी बोली ऐसी है, उसका हाथ कैसा होगा ?"

"यह डाक्टर थोड़े आपरेशन करेगा ? आपरेशन करनेवाले डाक्टर तो कल आयेंगे। सब कहते हैं, वो बहुत अच्छे हैं। आप कोई चिन्ता न कीजिए।"

पिताजी ख़ामोश हो गये। लेकिन उनकी बात मेरे मन में टीसती रही। ये डाक्टर ज़रा नर्मी से बोलें, तो क्या बिगड़े ?

रात को ही अपनी-अपनी जगह ठीक कर लेने की हिदायत थी। सुबह तड़के से ही आपरेशन शुरू होनेवाले थे।

अस्पताल के सहन में सैकड़ों रोगियों को क़तारों में बैठा दिया गया और हर क़तार के सिरे पर दो-दो, तीन डाक्टर एक-एक कम्पाउन्डर लिये सुई के सामान के साथ खड़े हो गये। इतने में मेहमान डाक्टर कई डाक्टरों के साथ वहाँ आ उपस्थित हुआ। मेहमान डाक्टर को देखकर रोगियों के चेहरों पर मुस्कान खिल उठी। पिताजी ने मुझे हाथ के इशारे से बुलाकर पूछा, "यही वह डाक्टर हैं क्या ?"

मैंने 'हाँ' में सिर हिलाया, तो वह बोले, "ये तो चेहरे से ही अच्छे डाक्टर मालूम होते हैं।"

मेहमान डाक्टर के पाँवों में बड़ी तेजी थी। एक मिनट भी वह खड़ा न रहा। वह तुरंत क़तारों में बैठे रोगियों को देखने लगा। आँख पर हाथ लगाता और आगे बढ़ जाता, जैसे समझने में उसे ज़रा देर ही न लगती, जैसे आईने की तरह उसकी आँखें तुरन्त रोग का प्रतिबिंब

अपने में उतार लेतीं। उसने कई रोगियों को यह कह कर हटा दिया कि अभी आपरेशन नहीं हो सकता और उनके लिए तुरन्त दवा के नुस्ख़े लिख दिये।

जिन रोगियों की जाँच में एक दर्जन डाक्टरों ने दो दिन ले लिये थे, उन्हें वह एक ही घंटे में निपटाकर आपरेशन थियेटर में घुस गया। ऐसा लगता था कि उसका एक एक क्षण बहुमूल्य हो और वह अपना एक क्षण भी ख़राब करना उसे गवारा न हो।

डाक्टर सुई लगाने लगे। किसी की एक आँख में और किसी की दोनों आँखों में। उनके पीछे-पीछे कम्पाउंडर सुई की जगह रुई चिपकाते जाते।

और आधे घटे के बाद ही रोगी एक-एक कर आपरेशन थियेटर में आने लगे। अच्छे-भले वे जाते, लेकिन लौटते तो टिकटी पर मुर्दे की तरह पड़े हुए। टिकटीवाले उन्हें उनके बिस्तर पर डाल फिर आपरेशन थियेटर की ओर भाग खड़े होते।

ऐसा लगता था कि मेहमान डाक्टर में और टिकटीवालों में होड़ लगी हुई हो कि कौन पहले अपना काम पूरा कर लेता है। डाक्टर कितनी तेज़ी से आपरेशन कर रहा था, उसे घड़ी की सुई ही बता सकती थी।

रोगी के साथ अभिभावक आपरेशन थियेटर के दरवाज़े तक जाता और अच्छी तरह अभी खड़ा भी न हो पाता कि देखता कि उसका रोगी टिकटी में बेहोश पड़ा वापस जा रहा है। टिकटीवाले चलते ही उसे संकेत करते और वह बेसमझ की तरह आगे-आगे चलकर अपने रोगी के बिस्तर के पास जा पहुँचता।

दो बजते-बजते जैसे सारी जगहें बेहोश रोगियों से पट गयीं। जिधर नज़र जाती कोई-न-कोई पड़ा हुआ दिखायी देता। खाटों-खटोलों पर,

फ़र्श पर, दरियों और चिथड़ों पर, नंगे फ़र्श पर, सहन में, टेंटों और जनरल वार्ड में। चारों ओर ऐसा सन्नाटा, जैसे अभी-अभी होती लड़ाई खत्म हो गयी हो और सिर्फ़ मारे गये लोग वहाँ पड़े हुए हों। अभिभावकों के चेहरों पर भी ख़ामोशी और चिन्ता छायी थी।

अब नर्सें भी इधर-उधर दिखायी पड़ने लगी थीं। अपने ख़ामोश किरमिची जूतों पर तैरती हुई-सी चलतीं, वे ऐसी दिखाई देतीं, जैसे आसमान में हँस उड़ रहे हों और धरती पर पड़े रोगियों को करुणा की दृष्टि से देख रहे हों।

पिताजी के प्रति मैं आश्वस्त था। कई बार बीमारी में उनके पास रहने का मुझे अवसर मिला था। उनमें असीम सहन-शक्ति थी। कड़े-से-कड़े दुख को भी वह चुपचाप झेल लेते थे। बल्कि उन्हें उन लोगों से चिढ़ थी, जो उन्हें किसी भी प्रकार छेड़ने की कोशिश करते। बीमारी में उन्हें चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय, यही उनकी सबसे बड़ी इच्छा होती।

वातावरण जैसे मौत की नींद सो रहा था। रोगियों के अगल-बग़ल लेटे बैठे अभिभावक या तो बार-बार जँभाई ले रहे थे या झपकी में डूब जाते थे।

फिर अभिभावकों में आपसी परिचय शुरू हुआ। आख़िर कोई कब तक ख़ामोश बैठा रहे? मेरे पड़ोसी ने फुसफुसाकर कहा, 'आपने खाना नहीं खाया?'

'नहीं, अब शाम को ही देखा जायगा।'

'आप जाकर कहीं पास से कुछ खा आइए। मैं यहाँ हूँ।'

'आपने भी तो शायद खाया-वाया नहीं?'

'आप हो आइए तो मैं भी जाऊँ।'

'ऐसा है तो आप जाइए, मैं तो यहाँ हूँ।'

'आपके यहाँ और कोई नहीं है ?'

'छोटा भाई है, शायद ख़बर लेने आता हो। और बाप—'

'मेरा घर तो यहाँ से पाँच मील पर, नदी-पार है।...ये मेरे बड़े भाई हैं। हम दो ही हैं। घर पर माताजी की तबीयत ख़राब है। भाई तो कहते थे, फिर आपरेशन करा लेंगे, लेकिन मैंने ही नहीं माना।'

मैंने उसके भाई को देखा। मुर्दे की तरह उसका पीला चेहरा देखकर मैंने कहा, 'ये बीमार थे क्या ?'

'क्या बताऊँ—'

तभी उसका भाई अचानक कराह उठा और वह व्यस्त हो उसके पास चला गया।

ख़ामोशी की चादर में अब इधर-उधर चीरे पड़ने लगे। दो-ढाई घटे बीत चुके थे। क्लोरोफ़ार्म का नशा टूट रहा था और सोया हुआ दर्द जागने लगा था। कभी इधर से किसी की आह सुनायी देती, कभी उधर से।

हमारे टेंट में पचास रोगी थे। थोड़ी ही देर में ऐसा लगने लगा, जैसे सारे रोगियों में कराहने की प्रतियोगिता शुरू हो गयी हो। और सूरज ढलते-ढलते तो ऐसा लगने लगा, जैसे हमें किसी ने रौरव नरक में ढकेल दिया हो, जहाँ दूतों-द्वारा प्रताड़ित प्राणी चीख़ रहे हों, कराह रहे हों, तड़प रहे हों और बिलबिला रहे हों।

मुझे क्या मालूम था कि यहाँ यह दृश्य भी उपस्थित होगा। अपनी परेशानी थी ही, पिताजी की चिन्ता ऊपर से खाये जा रही थी। वह रह-रहकर बोलते, 'ये कैसे लोग हैं ? कितना चीख़ते हैं कि मेरे लिए अपना दर्द बहलाना मुश्किल हो रहा है !'

मैं उन्हें क्या जवाब देता। मेरा पड़ोसी बीमार तो इस तरह चीख़ रहा था, जैसे अंकारियों से छेदकर मारे जाने वाले सुअर चीख़ते हैं।

उसका भाई घबरा-घबराकर मेरे पास आता और कहता, 'क्या करें ? ज़रा आप डाक्टर साहब से कहते ।'

कई बार मैं यह सोचकर टाल गया कि सभी की तो यही हालत है, डाक्टर के यहाँ क्या ख़बर नहीं पहुँची होगी ? हो सकता है कि डाक्टर अभी आता हो । कभी-कभी यह भी ख्याल आता कि डाक्टर न सही, कोई नर्स ही क्यों नहीं आती ? हाथ में लालटेन लिये कोई नर्स ही आ जाय तो रोगियों का यह चीख़ता हुआ दर्द उसके स्पर्श-मात्र से मीठी नींद सो जाय ।

लेकिन देर बीत गयी । कोई नहीं आया, न डाक्टर, न नर्स । उस आदमी की घबराहट की कोई सीमा ही नहीं थी । वह कहता, 'यह तो छटपटा रहा है, आपरेशन बेकार हो जायगा । कौन जाने आँख और भी ख़राब हो जाय !'

टेंट में अन्धकार घिर आया था । रोशनी का पता नहीं कोई इन्तज़ाम था या नहीं । टेंट के दरवाजों से अन्दर बाहर की बिजली की रोशनी झाँक रही थी, लेकिन शायद वह यहाँ की पीड़ा के डर से अन्दर आने का साहस न कर पा रही हो ।

आख़िर मैं अपने पड़ोसी के साथ बाहर निकला कि कोई डाक्टर या नर्स दिखायी पड़ जाय, तो उससे कहा जाय । बाहर निकलते ही ऐसा लगा, जैसे ज़मीन और आसमान के बीच चीखों का आदान-प्रदान हो रहा हो । कान तो बहरा हो ही रहा था, जैसे दिल दिमाग़ में भी चीरे पड़ रहे हों ।

हम जनरल वार्ड की ओर बढ़ रहे थे कि हमारे टेंट के कोने में एक छोटी रावटी दिखायी दी, जिसके द्वार पर एक पेट्रोमाक्स लालटेन स्टूल पर जल रही थी ।

मेरे पड़ोसी ने कहा, 'वहाँ देखा जाय, शायद कोई हो ।'

वहाँ अन्दर एक फोल्डिंग मेज़ के सामने एक फोल्डिंग कुर्सी पर एक युवती बैठी हुई बड़े आराम से कुछ पढ़ रही थी। देखकर मैं तो दंग रह गया। पहले तो यही लगा कि यह नर्स नहीं हो सकती। लेकिन वह नर्स ही थी, यह पोशाक से बिलकुल साफ़ था। फिर भी मेरे लिए विश्वास करना असम्भव था। किसी साधारण आदमी से भी इस वातावरण मे इस तरह बैठकर पढ़ा नहीं जा सकता। फिर नर्स!

मेरे पड़ोसी ने कहा, "इनसे कहिए। शायद यही हमारे टेंट की इन्चार्ज हैं।

मैं अपने साथी का मुँह देख ही रहा था कि विघ्न-आहत-सी वह लड़की ही बोल उठी, 'क्या है, मैन? क्या माँगटा है?'

मैं तो आसमान से ज़मीन पर आ रहा! यह तेवर, यह भाषा! यह नर्स कैसे हो सकती है? मेरे लिए कुछ कहना कठिन था। मेरा साथी ही बोला, 'मेरे भाई को बहुत पीड़ा है, ज़रा डाक्टर...'

'डाक्टर क्या यहाँ रखा हुआ है? और फिर डाक्टर आकर क्या कर लेगा? पेन तो होगा ही, बाबा! जाओ, नौ बजे आखिरी राउड पर डाक्टर आयगा तो देखेगा।'

हम लोग वापस आ गये। मेरे साथी की परेशानी अपने भाई की पीड़ा थी। लेकिन मेरी तो जैसे अराध्य देवी की मूर्ति ही खंडित हो गयी थी। बचपन से पाली हुई एक प्यारी धारणा पर गहरी चोट! मेरी तो आत्मा तिलमिला उठी।

इसी बीच टेंट में दो पेट्रोमाक्स लालटेनें दो सिरों पर रख दी गयी थीं। लेकिन जैसे मेरी आँखों के सामने कोई रोशनी न हो। चीख-पुकार की आवाज़ों के लिये भी मेरे कान बहरे हो गये थे। मेरे दिमाग़ में बस एक ही सवाल गूँज रहा था, यह कैसे हो सकता है? 'लालटेनवाली महिला' की वंशज यह कैसे हो सकती है? क्या दुनियाँ में सभी आदर्शों

का अन्त इसी प्रकार होता है ?

मैं अपनी पीड़ित आत्मा की गहराइयों में जाने कब तक डूबता-उतराता रहा। फिर मेरे पड़ोसी ने ही मेरी समाधि तोड़ी। वह बेहद घबराया हुआ था। उसके साथ कोई और भी व्यक्ति था। बोला, 'ये मेरे गाँव से अभी-अभी आये हैं। माँ एक घंटे से बेहोश पड़ी है। शहर से कोई डाक्टर लेकर चलने को कह रहे हैं। क्या बताऊँ, संकट जब आता है, तो अकेले नहीं आता। समझ में नहीं आता क्या करूँ ? भाई का यह हाल है और...' उसका कंठ रुद्ध हो गया और आँखों से परेशान आँसू चू पड़े।

मैं होश में आया। फिर मेरी दुनिया में चीख़-पुकारें वापस आयीं, जो पहले से भी अब तेज़ हो गयी थीं। मैंने पिताजी पर एक दृष्टि डाली, वे इन संसार के पीड़ित प्राणियों के बीच एक समदर्शी की तरह लेटे पड़े थे, जैसे उन्हें अन्दर, बाहर, कहीं से भी कुछ छू ही न रहा हो। शुरू में जो थोड़ी-सी उलझन उन्हें हुई थी, अब उसपर भी उन्होंने क़ाबू पा लिया था।

मैंने कहा, "आप जाइए। मैं हूँ न ! परेशान होने की कोई बात नहीं। मैं आपके भाई का पूरा ख्याल रखूँगा।

"क्या बताऊँ," वह आर्त स्वर में बोला, आप ने दिन में खाना भी नहीं खाया। कहिए तो मैं बाज़ार से कुछ ला दूँ आपके लिए ?

मैं उसका मतलब समझ गया। बोला, "नहीं, आप डाक्टर लेकर गाँव जाइए। मैं यहाँ से नहीं टलूँगा। हो सकता है, भाई आये।"

"अच्छा तो आपके भरोसे ही जा रहा हूँ। जल्द-से-जल्द वापस आने की कोशिश करूँगा। माता जी को शायद दिल का दौरा पड़ा हो, पहले भी ऐसा हो चुका है। मेरे इस भाई..."

"आप यहाँ से निश्चिंत होकर जाइए," मैंने उसकी बात काटकर

कहा, "देर हो रही है।"

वह चला गया। मैंने अपनी फ़र्श की दरी खिसकाकर दोनों खाटों के बीच कर ली और उसके भाई को रह-रहकर सान्त्वना देने लगा। कभी सिर सहला देता, कभी चम्मच से पानी पिला देता।

धीरे-धीरे वह कुछ शान्त हो गया। शायद उसने समझ लिया कि चीख़ने-चिल्लाने से कोई फ़ायदा नहीं। उसने कई बार अपने भाई के बारे में पूछा, लेकिन जान-बूझकर मैंने कोई-न-कोई बहाना बना दिया। एक दूसरी परेशानी में उसे डालना कोई अक़्लमंदी की बात न होती।

नौ बजे डाक्टर अपने राउंड पर आये। वह नर्स भी उनके साथ थी। उसके हाथ में एक छोटा-सा टार्च था। जब वे हमारे पास आये तो मेरी नज़र डाक्टर पर नहीं, नर्स पर थी। मैं ध्यान से देखना चाहता था। लेकिन वे तो इतनी तेज़ी से आगे बढ़ गये, जैसे उन्हें बड़ी जल्दी हो। मैं अपने पड़ोसी के बारे में भी कुछ न कह सका। फिर अचानक मन में आया कि देखूँ क्या इस नर्स का साया किसी रोगी के तकिये पर पड़ रहा है। लेकिन उसके हाथ में तो लालटेन नहीं, टार्च था जो जुगनूँ की तरह कभी-कभी जलकर बुझ जाता था। पेट्रोमाक्स का ख्याल आते-आते तो वे टेंट के बाहर चले गये थे!

मैं फिर उन्हीं बातों में पड़ गया। यह कैसे हो सकता है?

दस बजे के क़रीब पत्नी के साथ छोटा भाई आया। वे बड़े चिन्तित थे। पत्नी दिन में ही भाई को भेजना चाहती थी, लेकिन वह देहाती बाँगड़ू शहर से अपरिचित होने के कारण आने की हिम्मत ही न कर सका था। आख़िर इन्तज़ार करते-करते थककर पत्नी उसे लेकर आयी थी। खाना लाये थे। लेकिन उस माहौल में खाने की बात सोचना भी मुश्किल था, फिर मेरे दिमाग़ की हालत भी ठीक न थी। मैंने बहाना बना दिया कि एक घंटे पहले ही दुकान से खा आया हूँ। पिताजी को

देखकर वे चले गये।

चीख-पुकार क्षण-क्षण बढ़ती ही जा रही थी। जाने यह कब थमेगी, थमेगी भी या नहीं ? रोगी चीख रहे थे, लेकिन अभिभावकों की चिन्ता जैसे थककर अब झपकी ले लेना चाहती थी। अब कोई भी चलता-फिरता दिखायी न दे रहा था।

एक पेट्रोमाक्स भक-भककर धुआँ उगलकर गुल हो गया। हमारे बिस्तर बीच में थे, जहाँ अब अंधेरा भी था और रोशनी भी थी। मेरे दोनों मरीज़ शायद सो गये थे। पिताजी की नाक की आवाज़ कभी-कभी तेज़ हो उठती थी, तो मैं चौंक पड़ता था। लेकिन मेरे पड़ोसी की साधारण साँस की आवाज़ तो बिलकुल सुनायी न पड़ती थी। उसका चेहरा बेहद मुर्झाया-सा लगता था।

जाने कितनी रात चली गयी थी। मैं जाग रहा था। दूसरे पेट्रोमाक्स का गुल भी जैसे सुबह के तारे की तरह अपनी ज्योति समेटने में लगा था। बस नीचे ज़रा-सी रोशनी रह गयी थी। शायद थोड़ी देर में यह भी बुझ जाय। फिर यहाँ अंधेरा-ही-अंधेरा रह जायगा।

चीख-पुकारें भी जैसे अब थककर शिथिल हो गयी थीं। कोई-कोई खंड शान्त हो चुका था और कहीं-कहीं रात के पंछी की तरह पीड़ा की कोई टेर सुनायी दे जाती थी।

मेरे पड़ोसी का भाई अभी तक न लौटा था। जाने उसकी माँ कैसी हो ! बेचारा...

तभी अचानक मेरा पड़ोसी बड़े जोर से खाँस उठा। देखा तो वह उठकर बैठ गया था और ज़ोर-ज़ोर से अपनी छाती मसल रहा था।

मैंने परेशान होकर उसे लिटाते हुए कहा, "यह आपने क्या किया ? खाँसी रोकनी चाहिए थी। फिर आप उठकर क्यों बैठ गये ? डाक्टर ने मना किया था न ?"

उसकी साँस धौंकनी की तरह चल रही थी। टूटे स्वर में वह ऐसे बोला, जैसे उससे बोला भी न जा रहा हो, "डाक्टर को बुलाइए, मेरा जी डूब रहा है..."

मैं भागकर बाहर गया। रावटी में नर्स मेज़ पर सिर रखे सो गयी थी। घबराहट में मैं बोला, "मिस !...मिस साहब !"

सिर मेज़ पर रखे ही वह आँख झपकाकर बोली, "क्या है ?"

उसकी आवाज़ कितनी झल्लायी हुई थी ! लेकिन यह कुछ सोचने का अवसर नहीं था। मैंने कहा, मेरे मरीज़ का जी घबरा रहा है। उसे ज़ोर की खाँसी आयी थी.. ज़रा आप देखिए !'

"ओफ़ ! तुम लोग बड़ी जल्दी घबड़ा जाता है ! चलो !"

वह टार्च हाथ में लिये मेरे आगे-आगे चल पड़ी। उसकी वह चाल ! उसके पाँवों में किरमिची जूते न होते, तो उसका अन्दाज़ा सहज ही लग जाता। फिर तो मेरी घबराहट के ऊपर क्षोभ का एक आवरण भी चढ़ने लगा।

मेरा पड़ोसी पहले ही की तरह अपना सीना मींचे जा रहा था। नर्स एक पल ही तो उसके पास खड़ी हुई होगी कि न जाने किस बिच्छू ने काट खाया। वह चमककर चीख़ी, "इन कम्बख्तों के मारे तो मैं परेशान हो गयी !" और वह किफरी हुई, दाँत पीसती, पैर पटकती वहाँ से भाग खड़ी हुई।

मैं हैरान ! यह क्यों भाग खड़ी हुई ? कुछ भी समझने में मैं असमर्थ था। मैंने अपने पड़ोसी की ओर देखा। सीने पर उसके हाथ गये थे, उसकी साँस घर्र-घर्र बज रही थी। सो गया क्या ? मैंने उसके पास जा देखना चाहा कि तभी दूसरा पेट्रोमाक्स भी भक से बुझ गया ! अब जैसे अन्धकार के सिवा वहाँ कुछ भी नहीं था। मैं अपनी दरी पर आकर लेट गया। लेटते ही मुझे ऐसा लगा कि मैं बेहद थक गया हूँ,

अब उठा नहीं जा सकता।

सुबह रोने-पीटने की आवाज़ें सुनकर मेरी आँखें खुल गयीं। एक आशंका से भरकर मैंने पड़ोसी रोगी की ओर देखा, तो मेरा कलेजा धक से कर गया। वह बिलकुल निर्जीव-सा पड़ा था, उसकी गर्दन ऐंठ गयी थी, मुँह खुला हुआ था। लपककर उसके पास गया। रज़ाई नीचे गिरी पड़ी थी। उसका हाथ अपने हाथ में लिया तो बर्फ़ की तरह सर्द, नब्ज़ ग़ायब!

बाहर दौड़ा। न नर्स, न डाक्टर। बरामदे से कई लोगों के रोने की आवाज़ें आ रही थीं। मालूम हुआ कि रात तीन और रोगी मर गये थे। मेहतर इधर-उधर घूम रहे थे। उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि आठ के पहले कोई भी न मिलेगा।

भावुक, संस्कार-रूढ़, उत्तरदायी आदमी मैं किंकर्त्तव्य-विमूढ़ था। यह क्या हो गया? वह लौटकर आयगा और अपने भाई को न पायगा तो मैं उसे क्या जवाब दूँगा? यह कैसे हो गया? आस-पास के कई अभिभावक मृतक पड़ोसी के बिस्तर के पास आ खड़े हुए और मुझसे पूछने लगे, "इनके साथ कोई नहीं है क्या? इन्हें क्या हुआ था?..."

मैं उनकी ओर एक गौ-हतक की तरह देखने के सिवा और क्या कर सकता था?

आठ बजे सुबह के राउंड पर एक कम्पाउन्डर के साथ डाक्टर आया। मृतक के पास खड़े होकर उसने पूछा, "कौन है इसके साथ?"

मैंने कहा, "मैं हूँ। इनके भाई गाँव चले गये थे।"

"यह..."

"डाक्टर साहब, रात..."

"तुम मेरे साथ आओ..."

उसके दफ़्तर में उसके सामने खड़े होकर रात की सारी बातें मैंने

बतायी तो वह बोला, "यह कैसे हो सकता है ? रुको; मैं उस नर्स को अभी बुलाता हूँ।"

नर्स ने आते ही मुझे घूर कर देखा ! फिर बोली, "क्या बात है, डाक्टर साहब ?"

"रात टैंट नं० २ के बैड नं० २३ के पास तुम्हें बुलाया गया था ?"

"हाँ," नर्स के नथुने फड़क उठे। झुँझलाकर वह बोली, "डाक्टर साहब, मैं तो परेशान हो गयी हूँ ! क्या डाक्टर, क्या कम्पाउंडर, क्या रोगी, सभी ने मुझे परेशान कर रखा है !... मुझे देखकर कोई आँख मारता है, कोई सीटी बजाता है, कोई छाती पर हाथ रख लेता है...रात वह मरदूद रोगी...'

"लेकिन वह तो मर गया, "डाक्टर ने कहा, "शायद उसके दिल की धड़कन..."

"डाक्टर साहब," मैंने कहा, "मिस साहब क्या कह रही है, मेरी समझ में नहीं आता। मरीज़ की दोनों आँखों पर तो पट्टी बँधी थी, भला..."

"हाय ! इसका तो मुझे ख्याल ही न रहा !" वह अल्हड़ नर्स चौंककर बोली, "यह कैसी पट्टी मेरी आँखों पर बँध गयी !"

और मुझे सहसा लगा, जैसे अचानक उस 'लालटेनवाली महिला' के हाथ से गिरकर लालटेन पत्थर के फर्श पर चूर-चूर हो गयी हो और रोशनी गुल हो गयी हो।

मैं नर्स के बारे में बहुत-कुछ शिकायतें करना चाहता था। मैं 'लालटेनवाली महिला' का आदर्श सामने रखते हुए एक व्याख्यान देना चाहता था, लेकिन मेरे मुँह पर तो जैसे ताला पड़ गया था।

डाक्टर ने मिंचे हुए दाँतों के बीच से कहा, "तुम जाओ !"

नर्स का सिर झुका हुआ था।

●

चाय का प्याला

आग के ऊपर राख का पहाड़ है।

चाय के वक़्त कभी-कभी धुएँ की लकीरें हवा में उड़ती हुई दिखाई देती हैं, जैसे गीली लकड़ी का सिरा आग पकड़ने का धोखा दे रहा हो।

मेज़ के पास हाथ में चाय का प्याला लिये खड़ा हुआ मुकर्जी दबी आवाज़ में, आँखों में चौकन्नापन लिये हुये कहता है—अब बरदाश्त नई करने शकता। आगे का मईना नौकरी छोड़ देगा।

सिन्हा मुस्कराता है, चौधरी सिर हिलाता है, शर्मा अनसुना-सा प्याला होठों से लगा लेता है, जैसे उसे बिलकुल ही फ़ुरसत न हो; दत्ता बेसमझ-सा देखता है, अग्रवाल ऐसे होंठ बिचका देता है, जैसे कहना चाहता हो, तुम क्या, तुम्हारे फ़रिश्ते भी नौकरी नहीं छोड़ सकते! तुम ग़बन कर सकते हो, हत्या कर सकते हो, डाका डाल सकते हो, लेकिन नौकरी नहीं छोड़ सकते! ऋषी बेतहाशा हँसता है और मालवी कृत्रिम सहानुभूति का भाव चेहरे पर लाकर, बड़ी उत्सुकता से पूछता है—क्या

हुआ, मुकर्जी बाबू ?

मुकर्जी मुँह बिगाड़कर कहता है—बगर !—और झटके से मुँह फेर लेता है।

सिन्हा अब ध्यान देता है। घूँट निगलकर कहता है—आखिर हुआ क्या, मुकर्जी बाबू ?

सब चौकन्ने होकर सुनते हैं।

मुकर्जी कहता है—चउदा मईना ओ गया, फुल फोर्टीन मान्थ्स, शाला बगर बोला था छो मईना बाद तनख़्वाह बड़ायेगा। अब बोलता ऐ, अमका काम भालो नाई।—फिर वह अंग्रेजी में बोलने लगता है, जिसका मतलब होता है, जब हम आये थे, विज्ञापन की आमदनी सिर्फ़ पाँच हज़ार थी, अब बारह हज़ार है। पूछो साले से, हमारा काम ठीक नहीं, तो यह आमदनी कैसे बढ़ गयी ? बगर ! और ऐसे ओंठ बिचका लेता है, जैसे सभी दुनिया से, सारी ईमानदारी से, सभी कामों से उसे नफ़रत हो।

और सिन्हा जैसे एक ही बात में अपनी पूरी कहानी कह देता है—हमको तो दस साल हो गये, मुकर्जी बाबू, दस साल ! पूछिए अग्रवाल बाबू से। हम दोनों एक ही दिन यहाँ आये थे। जाल में फँसते हमने सबको देखा। लेकिन तोड़कर निकलनेवाले को अभी देखना है। ज़माना बहुत बुरा है, मुकर्जी बाबू, और फिर चारों ओर तो जाल-ही-जाल है !—कहकर वह हँसता है, तो उसके बग़ल के नक़ली दाँत की चाँदी की पन्नी चमक उठती है।

सिर हिला-हिलाकर चौधरी कहता है—आहो, आहो, हमको भी पाँच साल हो गये।

आँखें उठाकर प्याला मुँह के पास किये ही दत्ता कहता है—दो साल हमको भी हो गया।

अग्रवाल हँसता है, बस हँसता है, और मन-ही-मन कहता है, मूर्खो ! मूर्खो !

अग्रवाल की आँखों में ग़ुस्सा है और वह सोचता है, मध्यम वर्ग के कायरो ! तुम क्षणों के ग़ुलाम हो, क्षण में हँसते हो, क्षण में रोते हो; तुम्हारा हँसना क्या, रोना क्या, न तुम्हारे हँसने में मुझे ख़ुशी है, न रोने में सहानुभूति। तुम ढोल हो। ऊपर से आवाज़ करते हो, अन्दर से खोखले। मैं समझता हूँ सब ये व्यर्थ की बातें।

और शर्मा प्याला रखकर ऐसे चला जाता है, जैसे यह सब सुनना-देखना पाप हो। उसको यहाँ आये अभी तीन ही महीने हुए हैं। और मालवी भोले बाबा की तरह मूँछ को चाटकर कहता है—नहीं, मुकर्जी बाबू, ऐसा न कीजिएगा। कहीं ठीक करके छोड़िएगा।

और तभी खिड़की के सामने से जैसे एक दैत्य गुज़र जाता है, और जैसे बच्चे सहम जाते हैं, जल्दी-जल्दी प्याला ख़ाली कर सब अपनी-अपनी जगह चले जाते हैं।

अग्रवाल मन-ही-मन हँसता है।

सिन्हा अपना प्याला ख़ुद ही साफ़ करता है, उसी से पानी भी पीता है। गिलास नहीं है, शीशे का एक गिलास कभी मिला था, जो उसकी क़िस्मत की तरह एक बार फूट गया, तो फिर दूसरा नहीं मिला। प्याले में पानी लेकर वह अपनी मेज़ के कोनों को साफ़ करता है। उसी की मेज़ चाय-मेज़ का काम देती है। उस मेज़ के पास ही फ़र्श पर चाय के जूठे बर्तन पड़े हैं। मक्खियाँ भिनक रही हैं। नौकर को फ़ुरसत मिलेगी, तो साफ़ करेगा। क़लम चलती है।

चाय के वक़्त का यही नाटक है। कभी-कभी राजनीति और सुख-दुख की बातें आ जायँ, तो आ जायँ। ये ही अभिनेता हैं। पार्ट किसी का कोई ख़ास या बँटा नहीं है। सब सबका पार्ट निबाह लेते हैं। वक़्त

सब पर होकर गुज़रता है। वह पक्षपात क्या जाने। कभी-कभी धुएँ की लकीरें हवा में उड़ती हुई दिखायी देती हैं, जैसे गीली लकड़ी का सिरा आग पकड़ने का धोखा दे रहा हो।

आग के ऊपर राख का पहाड़ है। आग है, क्योंकि दुख है; राख है, क्योंकि और भी दुख का भय है।

शुरू-शुरू में चाय पीनेवाले दो ही थे, सिन्हा और अग्रवाल। उस वक़्त यह दफ़्तर भी क्या था, चार-पाँच क्लर्क और दो ये सहकारी सम्पादक। चालीस वर्ष की आयु तक सिन्हा ने स्वतंत्र रूप से लेखक और पत्रकार का जीवन बिताया था। और जब लड़ाई ने उसकी कमर तोड़ दी थी, तो यह नौकरी करने पर वह मजबूर हुआ था। उस समय उसे कुछ वैसी ही मर्मान्तिक पीड़ा हुई थी, जो एक लम्बी साधना के अचानक टूट जाने पर साधक को होती है। उस वक़्त उसने सोचा था कि दो-एक साल तक नौकरी करेगा और फिर अपनी स्वतंत्र साधना की ओर लौट जायगा। मगर एक बार जो नौकरी के चंगुल में फँसा, तो जैसे उसका लेखक हमेशा के लिए मर गया। क़सम है कि दस साल के बीच उसने एक भी चीज़ लिखी हो। उसकी आत्मा ख़ून के आँसू रोती है, एक दर्द हमेशा उसके दिल में टीसता रहता है। लेकिन वह क्या करे, आठ घंटे की सिलाई के बाद क़लम लेकर बैठने का दम ही नहीं रहता। नौकरी छोड़ने की उसने कई बार कोशिश की, लेकिन छोड़ न सका।

अग्रवाल लेखक बनने की कोशिश में, पच्चीस साल की उम्र में ही सात नौकरियाँ करके छोड़ चुका था। यह उसकी आठवीं नौकरी थी। सोचा था, अनुकूल वातावरण मिलेगा, उसकी साध पूरी होगी। उसका ख़ून अभी नया था, सिन्हा की तरह उसने अभी तक हथियार नहीं डाला था, लड़ रहा था।

उस वक़्त दो पत्रिकाएँ थीं। ख़ासी चल रही थी। मालिक की क़िस्मत कहिए, (ऐसा ही वह कहता है) कि एक दिन जो दूज के चाँद की तरह चमकी, तो कुछेक वर्षों में ही पूरा चाँद बन गयी। और आज पत्रिकाएँ चार हो गयी हैं। और ऐसी चलती हैं कि लोग दाँतों-तले अँगुली दबाते हैं। दो सौ आदमी काम करते हैं।

चाय में शामिल होनेवाला तीसरा आदमी एक रिटायर्ड ईसाई था, जो टायपिस्ट होकर आया था! अल्लाहवाला आदमी था, हुकूमते-वक़्त के ताबे रहनेवाला। उसका क़ौल था कि उस वक़्त तक परेशान न होओ, जब तक ख़ुद परेशानी तुम्हें परेशान न करने लगे। (आज बेचारा रक्तचाप के चपेट में आकर बिस्तर पर पड़ा है, ख़ुदा उसकी हिफ़ाज़त करे!) बेचारा चाय का बीमार था, जैसे ही गन्ध मिली, आ पहुँचा। सिन्हा और अग्रवाल ने स्वागत किया। सिन्हा ने उसे 'रामफल' की कहानी सुनायी। जब कोई नया चाय में शामिल होता है, सिन्हा उसे 'रामफल' की कहानी ज़रूर सुनाता है। कहता है—

—जनाब! इस चाय को मज़ाक न समझें। बड़ी मशक़्क़तों के बाद यह चाय मिली है!.....उस साल जाड़ा बड़े ज़ोरों का पड़ा था। एक हफ़्ते से लगातार बारिश हो रही थी। और पछुआ वह झक्झकारकर चल रहा था, कि ख़ुदा की पनाह। हाथ-पाँव गलते थे।.....और यह जगह देख रहे हैं न, यह सम्पादकों का कमरा है!...ऊपर टपकती खपरैलें और चारों ओर ऐसे खुला कि पछुआ सीधे बर्छियाँ मारे। हम दिन भर ठिठुरते। अँगुलियाँ ऐसी अकड़ी कि क़लम न पकड़ी जाय। सी-सी करते। बात ज़बान से न निकलती। जेबों में या काँखों में दबाकर हाथ गरमाते। अग्रवाल बाबू मुझे देखते और मैं उन्हें देखता, और हमारी आँखों में ठंडा जमा हुआ पानी आ जाता। आख़िर तंग आकर एक दिन मैंने अग्रवाल बाबू से कहा, कोई उपाय करना चाहिए।

उससे (मालिक से) अँगीठी के लिए कहा गया, तो वह यहाँ आ खड़ा हुआ। तंज़ेब का कुरता, लंकलाट की कमीज़ पर एक साधारण स्वेटर वह पहनता। बोला, आप लोगों को ऐसी सर्दी लग रही है। मुझे देखिए, मैं तो पूरा जाड़ा इन्हीं कपड़ों में काट देता हूँ।...और वह चला गया। कोई और उसे देखता और उसकी बात सुनता, तो आश्चर्य करता। लेकिन हमारे लिए यह कोई आश्चर्य की बात न थी। हम जानते थे कि वह आरामकुर्सी के हत्थों पर पाँव फैलाये, रगों में शराब भरे, दाँतों के नीचे अफीम की गोली दबाये, सिगरेट फूँकता, घटे-घटे पर चाय पीता, आँखें बन्द किये बेग़म लेटा-लेटा टाटा-बिड़ला के सपने लेता। उस हालत में वह नगा क्यों नहीं नाचता, इसी का हमें आश्चर्य था!... कम्बख्त को कभी यह तौफीक न हुई कि बग़ल में लेखक और पत्रकार किस्म के चाय की खाजवाले दो जानवर जाड़े से ठिठुर रहे हैं, एक प्याली चाय दे दो। बिजली का स्टोव उसके कमरे में बराबर जलता रहता और एक नौकर चाय बनाता रहता।...

—आखिर एक दिन झुँझलाकर मैंने कहा, अग्रवाल बाबू, हिम्मते मर्दां मददे ख़ुदा!...और ख़ुदा बेचारे मसूद (उसका पूरा नाम नाम मसूरियादीन था, जो पुकार में छोटा हुआ, तो मज़हब भी बदल लिया!) को ख़ुदा ख़ुश रखे! बेचारा हमारे ही कारण नौकरी से निकाल दिया गया, और अब मूंगफली का खोमचा लगाता है। उस वक़्त वह अस्वीकृत रचनायें पैक करने हमारे पास एकाध घटा बैठता था और हमारा और भी काम कर देता था।...तो दूसरे दिन मैं एक अंगीठी लटकाता आया। मसूद से कोयला मँगाया गया। और साहब, अँगीठी क्या लहकी, हमारी आँखों में ख़ुशी की लपटें नाच उठीं। और दूसरे दिन हम प्याले लाये मसूद चाय-चीनी और दूध बाज़ार से ख़रीद लाया। अब चाय बनाने को बरतन का सवाल उठा। ख़याल न रहा,

वर्ना वह भी लाते। तभी मसूद ने सुझाया कि लोटा तो है। आफ़िस का वह इकलौता लोटा था, और उसपर हमारे ब्राह्मण हेड क्लर्क का एकाधिकार था। वह किसी को छूने ही न देता था। हम ज़रा हिचकिचाये। लेकिन मज़दूर मसूद ने कहा, दफ़्तर का लोटा है, कोई उसके बाप का है! मैं साफ़ करके रख दूँगा।...और वह चाय हमने क्या पी, अमृत पिया। मसूद ने पहली बार उस लोटे को मुँह से लगाकर पवित्र किया, तो उसकी आँखों में शरारत नहीं, विजय की चमक थी।...और एक दिन अग्रवाल बाबू को जाने क्या सूझा कि अन्डे लेते आये। और साहब, फिर तो लोटे के भ्रष्ट होने का वह शोर उठा कि हेड क्लर्क पागल होकर चीखने लगा। मसूद ने बचाव किया, 'रामफल' उबालने से कहीं लोटा भिरस्ट होता है? और यह संयोग को ही तो बात थी कि हेड क्लर्क के नाम का पहला शब्द भी 'राम' था। हम बेचारे मसूद को न बचा सके, वह हमेशा हमें याद रहेगा। कहा तो यही गया कि उसकी बदमाशी की वजह से उसे निकाला गया, लेकिन हम ऐसे भोले न थे, जो यह न समझते। असल में हमारी आग और चाय का शानदार इन्तज़ाम मालिक को आँखों खल गया था। वह बार-बार आकर हमसे कह जाता था, कागज़ भरा है, कहीं आग न लग जाय। असल में हमारा थोड़ा-बहुत वक़्त भी तो इस खुराफ़ात मे 'बरबाद' होता था। उसे क्या मालूम कि इस कड़ाके के जाड़े में यह हमारे लिए हवा और पानी की ही तरह ज़रूरी था। सो यह मसूद के प्रति किये गये अन्याय के विरुद्ध हमारा प्रदर्शन समझिए या एक ज़िद कि हमने अपना 'कैफ़ेटेरिया' मसूद की यादगार में जारी रखा। स्वावलम्बन से बढ़कर कोई अवलम्ब नहीं। हम खुद मैनेजर और बावर्ची और ब्वाय बने। लोटा तो भ्रष्ट होकर हमारा हो ही गया था। ज़ाहिर है कि उसमें मसूद के ज़माने में जहाँ हमारा आधा घंटा 'बरबाद' होता

था, अब एक-एक घंटा होने लगा।.. और खुदा खुश रहे, जिसने एक दिन मालिक को सद्बुद्धि दी कि वह हमारे पास आया और राजा कर्ण की तरह जैसे दोनों कानों के कुन्डल निकालकर बोला, आप लोग क्यों ज़हमत उठाते हैं। दो प्याली चाय हमी आप लोगों को दे देंगे।

और 'रामफल' की कहानी ख़त्म कर, सिन्हा सिर हिलाकर, आँखें फैलाकर बड़ी शान से कहता है—तो जनाब इस चाय को मज़ाक न समझें। बड़ी मशक्क़तों के बाद यह चाय मिली है। इस चाय में शामिल होकर आप इस बात का ख्याल रखें कि कोई ऐसा काम न करें जो इस चाय की शान के ख़िलाफ़ हो। प्याला आपका, चाय सरकार की, मसूद मज़दूर ज़िन्दाबाद!—और फिर वह ऐसा हँसता कि ज़ोर की खाँसी आ जाती। वह सिग्रेट बहुत पीता है।

पहले दो प्याले की चायपोची आती थी, फिर तीन की आने लगी, और अब आठ की आती है। अग्रवाल नौकर से कह देता और नौकर मालिक से, और मालिक शायद उस ख़ुदा को कोसता, जिसने एक दिन उसे सद्बुद्धि दी थी। लेकिन इनकार न कर पाता। जैसे उसे डर हो कि कहीं फिर वही खुराफ़ात.....

मालिक दो तरह के आदमियों को ही अपने यहाँ रखता है। एक तो वे जो दीन-दुनिया, सर्दी-गर्मी से बिलकुल अनभिज्ञ, पहली बार नौकरी की तलाश में निकले हों, और दूसरे वे, जो सौ घाट का पानी पी चुके हों, बीसियों जगह एड़ियाँ घिस चुके हों, और ज़िन्दगी की मार खाकर बेसहारा और बेकार और बेज़ार होकर उसके पाँवों में आ गिरे हों, आदमी की इन दोनों अवस्थाओं से वह भरपूर फ़ायदा उठाता है। याने कम-से-कम तनख्वाह पर नियुक्त करता, और कहता है कि अगर काम संतोषजनक हुआ, तो छै महीने के बाद ज़रूर बढ़ा देगा।

चाय में शामिल होनेवाले सभी दूसरी अवस्था के लोग हैं। चौधरी

शायर है, मक्खन की तरह दिलवाला, ज़रा गर्मी और सर्दी से पिघल और जम जानेवाला, लागर, हमेशा नीम-बीमार-सा, चालीस की उम्र में शायरी का पेट भरने यहाँ सम्पादन-विभाग में आ गया।

ऋषि को अपने सत्तर साल की उम्र का बड़ा गर्व है। पाँच मील पैदल चलकर दफ़्तर आता है। मस्त आदमी है। हमेशा हँसता रहता है और अपने आँखों-दाँतों का बराबर बखान करता है, जो अब तक उसका साथ दे रहे हैं। चार साल पहले आया था। बैंक का हिसाब-किताब रखता है।

मालवी का चालीसा अभी नहीं लगा है। लेकिन ज़िन्दगी ने उसे कुछ इस तरह रगड़ा है, कि चाँद साफ़ हो गया है, बीड़ी ख़ूब पीता है, तीन साल पहले आया था। प्रेस सुपरवाइज़र है।

दत्ता जवान आर्टिस्ट है। वर्षों संघर्ष के बाद जब उसकी प्यालियों के रंग सूख गये, तो यहाँ आ गया। हर आर्टिस्ट की तरह प्रशंसा का भूखा, ज़रा तारीफ़ कर दीजिए, तो आँखें चमक जायँ; ज़रा हिनाई कर दीजिए, तो मुँह लटक जाय। उसे जब फ़ाइन आर्ट की याद दिलायी जाती है, तो बेचारा उदास हो जाता है।

मुकर्जी पचास को छू रहा है। बाल और सामने के चार दाँत साफ़, सात बच्चों का बाप, हमेशा परेशान रहनेवाला, मैला, फटा कपड़ा और जूता, किसी से भी उधार माँगने में न हिचकिचानेवाला, और गाली की हद तक पहुँचने के पहले अदा करने का नाम न लेनेवाला, रक्तचाप के कारण फ़ाके करके भी हमेशा मोटा बना रहनेवाला। पत्रकारिता से लेकर फौज तक की नौकरी कर चुका है।

सबसे नया शर्मा है। पतला-दुबला, बिना किसी उतार-चढ़ाव का शरीर, भिंची हुई छाती, मियाना क़द, चिकना चेहरा, बाल सब काले, उम्र का पता नहीं चलता। देखने से ही चुस्त और ईमानदार लगता

है। शहर के क़रीब-क़रीब सभी प्रेसों में काम कर चुका है। जब तक निकाला न गया, तब तक न छोड़ा। चार-चार जवान बेटे-बेटियाँ हैं, महीनों दौड़ते रहने के बाद यहाँ रखा गया, यहाँ यह कहकर कि जगह कोई खाली नहीं, ख्याल करके ही रखा जा रहा है, ऊपर के कामों के लिए।

सब-के-सब छमाही क्या कितने ही छमाही और सालाना इम्तहान फ़ेल कर चुके हैं। हाँ, कभी-कभार एकाध टिप उस एन्जेक्शन की तरह ज़रूर मिला है, जो एक बार लगा देने से सालों काम करता है।

शर्मा छमाही इम्तहान पास करने की धुन में जुटा है। ऊपर के काम के नाम पर उसे काग़ज़ स्टोर, कम्पोजिंग विभाग, दफ़्तरीखाना और प्रूफ़ का काम सौंपा गया है। वह बड़ी मुस्तैदी और ईमानदारी से सभी काम निभाता है। एक मिनट को चैन से नहीं बैठता। सुबह दस के बदले साढ़े नौ को आ जाता है और शाम को पाँच के बदले कभी सात, कभी आठ और कभी-कभी तो नौ बजे जाता है। तीन महीने में ही वह मालिक की नाक का बाल और यहाँ का एक महत्वपूर्ण कर्मचारी बन चुका है, सबकी निगाहों में, ख़ुद अपनी भी। जो भी काम होता है, शर्माजी को बुलाओ, शर्माजी से कहो। शर्माजी बैल की तरह जुटे हैं। लोग देखते हैं और दंग रह जाते हैं। बल्कि कोई-कोई तो यह भी चिन्ता करने लगे हैं कि कहीं उन्हीं की जगह पर न बन आये। लेकिन शर्मा को किसी से आँख मिलाने का अवकाश नहीं रहता। काम, काम, बस काम!

चाय के वक़्त शर्मा अक्सर देर से आता है। कभी-कभी तो उसकी चाय पड़ी-पड़ी ठंडी हो जाती है। वह आता है, जल्दी-जल्दी पीता है, और भाग खड़ा होता है। कभी-कभार कोई छेड़ता है—शर्माजी, आप इस तरह अपने को क्यों बरबाद कर रहे हैं! अपनी ज़िन्दगी से कोई

सबक न लिया, तो हमारे अनुभव से लीजिए। यहाँ हम-सब उस दौर से गुजर चुके हैं, जिससे आप गुज़र रहे हैं। ऐसा भी क्या कि आदमी जान दे दे, वह भी एक झूठे, बेईमान के वादे पर...लेकिन शर्मा कान नहीं देता। मेहनत और ईमानदारी पर से अभी उसका विश्वास नहीं उठा है। वह सोचता है, यह सब कामचोर हैं, जलते हैं, अपना दोष नहीं मानते, सज्जन मालिक को कोसते हैं।

उसकी तन्दुरुस्ती पर असर होने लगा है। चेहरे की चिकनाहट पर थकान की छाया हर घड़ी बनी रहने लगी है। सौ रुपया और बड़ा कुटुम्ब! लेकिन चकोर की तरह चाँद पर नज़र गड़ाये हुए है। सुबह चकोर उलटकर गिर पड़ता है, लेकिन शर्मा के मुँह में चाँद आ आयगा, ऐसा उसे विश्वास है।

छै महीने कट गये। एकाध महीने और भी हाँ-हाँ में बीत गये। शर्मा ज़रूर कुछ थका-थका-सा, उदास और निराश दिखायी देने लगा। चाय के साथी उससे कुछ पूछते, तो वह जवाब न देता। साथी हँसना चाहते, लेकिन हँस न पाते, जैसे यह अपने ही ऊपर हँसना नहीं, बल्कि रोना हो। शर्मा की हालत दिन-दिन दयनीय होती जा रही थी। चुस्ती और मुस्तैदी के हाथ-पाँव जैसे ढीले पड़ने लगे हों। कभी खाँसता, तो ऐसा लगता कि जैसे ज़िन्दगी की हार फूटा ढोल बजाती बढ़ी आ रही हो। फिर भी वह उसी तरह आठ-आठ, नौ-नौ बजे तक जुटा रहता।

और एक दिन वह चाय पर नहीं आया। उसके प्याले में उसकी चाय पड़ी रही। नौकर बर्तन साफ़ करने आया, तो पूछा, यह किसकी चाय पड़ी है? बताया गया, तो उसने कहा कि उनकी तो अर्ज़ी आयी है, बीमार पड़ गये हैं।

—क्या हुआ है?—सिन्हा, चौधरी और अग्रवाल ने एक ही साथ पूछा।

लेकिन नौकर को पूरी बात का पता न था।

दूसरे दिन चाय पर शर्मा की बातें होती रहीं। चौधरी उसे देख आया था। उसे जोर से बुखार और खाँसी आती थी। चौधरी ने बताया कि वह बहुत दुखी है। उसे अफ़सोस है कि शरीर की चिन्ता छोड़कर भूत की तरह काम क्यों किया. क्यों नहीं हमारी बात मानी, अब तो कोई पूछनेवाला नहीं, महीने के आखिरी दिन हैं, पैसा पास नहीं, क्या करूँ ? उसने चौधरी से पचास रुपये पेशगी दफ़्तर से माँग लाने को कहा था। चौधरी ने यह भी बताया कि इस हालत में भी उसे अपने काम की चिन्ता लगी हुई है। कहता था, मेरे बिना बड़ा हर्ज होगा। मालिक बहुत परेशान होगा। और चौधरी ने फिर कहा – किसी को क्या मालूम कि मालिक की ही तरह एक और आदमी को भी हरज होने की चिन्ता है ? लेकिन मालिक ने दस रुपये ही पेशगी दिये हैं।

बेचारे को इतनी चिन्ता थी, लेकिन यहाँ कोई फ़र्क़ न पड़ा था। सब काम नदी की धारा की तरह चल रहा था, जैसे कहीं कुछ न हुआ हो।

और तीसरे दिन नौकर चायपोची ला अभी मेज़ पर रख ही रहा था कि ग़ुस्से, नफ़रत और घबराहट से काँपता हुआ मालिक आ पहुँचा। फ़र्श पर उसका प्याला पड़ा था। उसकी ओर देखकर बोला—तू मेरा प्याला भी इन्हीं लोगों के प्यालों के साथ साफ़ करता है ? बेवकूफ ! कितनी बार कहा कि मेरा प्याला अलग से धोया कर ?...शर्मा का प्याला कहाँ है ?

सहमे नौकर ने ताक पर पड़े उदास प्याले की ओर संकेत किया।

—उठाकर फेंक इसे !—फिर उसने उन लोगों से कहा—शर्मा का लड़का आया था। डाक्टर ने बताया है कि शर्मा को टी० बी० है। जाने कमबख्त कब से टी० बी० के कीड़े पाले हुए था और यहाँ फैला रहा था ! छिः-छिः !—और चला गया।

नौकर ने शर्मा के प्याले की अंगूठी दो अंगुलियों से वैसे ही पकड़कर आँगन के कोने के कूड़ों के ढेर में फेंक दिया, जैसे कोई मरे चूहे की पूँछ पकड़कर फेंके।

कमरा धुएँ से भर गया, जैसे गीली लकड़ियों के सिरों ने आग पकड़ ली हो।

आग के ऊपर राख का पहाड़ है। सर्वाधिक सहनशीला धरती की भी कोख जब आग से जलने लगती है, तो पत्थरों का पहाड़ तोड़कर ज्वालामुखी फूट पड़ता है। राख की बिसात क्या?

कई दिन से अग्रवाल चुप था। इस वक़्त जाने क्या-क्या उसके कलेजे में उबल रहा था। लेकिन किचकिचाकर एक ही शब्द बोला—देखा?

सब उस प्याले को वैसे ही देख रहे थे, जैसे वह उनके एक अज़ीज़ की लाश हो और दूसरे ही क्षण उन्हें ऐसा लगा, जैसे वहाँ प्यालों का ढेर लगा हो, और उस ढेर में उनका अपना-अपना प्याला भी दिखायी दे रहा हो।

सिन्हा ने गम्भीर स्वर में कहा—हमें कुछ करना चाहिए!

●

सिविल लाइन का कमरा

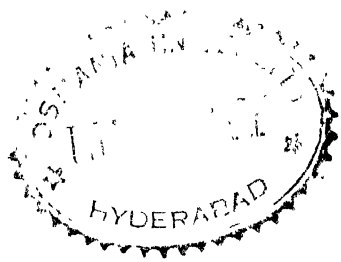

श्रीधर की कठिन समस्या यों चुटकी बजाते हल हो गयी। उसे तो आश्चर्य और हर्ष हुआ ही, उसके साथी अध्यापकों को भी कम आश्चर्य न हुआ। सब ने उसे बधाई दी और ख़ुशी ज़ाहिर की कि जो संयोग और सौभाग्य उन्हें बरसों से चक्कर काटने पर भी प्राप्त न हुआ, श्रीधर को यों अचानक ही प्राप्त हो गया। उसे इस ख़ुशी में एक पार्टी ज़रूर देनी चाहिए।

सचमुच श्रीधर की समस्या कोई साधारण न थी। उन दिनों किसी भी शहर में लोगों को यह बात कहते कोई भी सुन सकता था कि अगर कोशिश की जाय, तो यह सम्भव है कि भगवान मिल जायँ, लेकिन लाख कोशिश करने पर भी कोई मकान हासिल कर सकता है, यह असम्भव है। और वह भी सिविल लाइन में...राम भजो!

श्रीधर पहले दर्जे में एम० ए० पास करके दो साल तक बेकार रहा। पुलिस अफ़सर का बेटा और फ़र्स्ट क्लास एम० ए०। लोगों को आश्चर्य होता कि श्रीधर बेकार क्यों और कैसे है? कोई पूछता, तो

श्रीधर कहता—मुझे पुलिस विभाग से नफ़रत है।—और कोई किसी दूसरे विभाग की बात चलाता, तो वह आँखें चढ़ाकर कहता—मुझे हर सरकारी नौकरी से नफ़रत है।—कोई सुझाता—अरे भाई, तो कोई और नौकरी ही कर लो, तुम्हारे जैसे फ़र्स्ट क्लास के लिए कोई नौकरी पा लेना क्या मुश्किल है! और फिर पिता के रसूख...—तो श्रीधर के तन-मन में आग लग जाती। वह दुनिया की हर बात सह सकता था, लेकिन किसी की, चाहे वह उसके पिता ही क्यों न हो, मदद की बात सह लेना उसके लिए असम्भव था। वह तमककर कहता—जो बनना होगा, मैं ख़ुद अपनी योग्यता से बनूँगा! मैं जानता हूँ कि मुझे क्या बनना है और कैसे बनना है! पैसा कमाना और पेट पालना ही मेरे जीवन का ध्येय नहीं है!—और लोग चुप हो जाते।

इस विषय में श्रीधर के पिता से कोई बात करता, तो वह कहते—लड़का बिलकुल अपने मन का है। किसी की बात नहीं सुनता!—और फिर हँस-हँसकर एक पुरानी घटना का वर्णन करते। वह कहते—इस लड़के का दिमाग़ शुरू से ही ख़राब है। उस वक़्त यह आठवें दर्जे में पढ़ रहा था। एक दिन दोपहर को ही स्कूल से लौटकर वह लगा ज़ोर-ज़ोर से रोने। माँ पूछते-पूछते हैरान हो गयी, मैं पूछते-पूछते थक गया, लेकिन वह था कि बस रोये जा रहा था, जैसे किसी की बात उसे सुनायी ही न दे रही हो। किसी की समझ ही में न आ रहा था कि अचानक यह क्या हो गया उसे। वह कुछ भी बताता ही न था। बताना क्या, वह मेरी ओर सीधी आँख देखता भी न था, मैं उसके माथे या कन्धे या आँसू पोंछने के लिए उसकी आँखों पर हाथ रखता, तो वह ग़ुस्से से मेरा हाथ झटक देता। लेकिन जब उसकी माँ उसके आँसू अपने आँचल से पोंछतीं, तो वह और भी ज़ोर से रो पड़ता। इससे, जाने क्या समझ कर, उसकी माँ को शक हो गया कि ज़रूर मैंने

ही कुछ कहा है। अब वह मेरे पीछे पड़ गयीं। लेकिन उसे मैंने कुछ कहा हो, तब तो बताऊँ। मैं तो सुबह के बाद उससे मिला भी न था। खा-पीकर, मुझसे चार आने पैसे लेकर हँसता हुआ वह स्कूल गया था। चार आने वह रोज़ स्कूल जाते वक़्त मुझसे लेता था, वही उसका जेब-खर्च था। लेकिन उसकी माँ मेरी बात मानने को तैयार न थीं। उन्हें भी बेटे ही की तरह जैसे ज़िद हो गयी कि ज़रूर मैंने ही कुछ किया है, वर्ना क्या बात है कि वह मुझे देखता तक नहीं। और हमेशा की तरह जब मैंने देखा कि वह बेटे को लेकर मुझसे झगड़ने पर उतारू हो गयी हैं, तो वहाँ से खिसक जाने में ही मैंने भला समझा।

—दूसरे दिन गवर्नर साहब आनेवाले थे। सब प्रबन्ध करने-कराने के लिए ज़िले के अधिकारियों की बैठक होनेवाली थी। बड़ी रात गये लौटा तो बावर्ची से मालूम हुआ कि मेम साहब और बाबा बिना खाये ही सो गये हैं। मुझे बेहद ग़ुस्सा आया। लेकिन करता क्या? सुबह चार बजे ही फिर काम से जाना था। इतनी रात को उन्हें जगाकर परेशान करना ठीक न समझ, मैं भी कपड़े बदल सोने के कमरे में चला गया। श्रीधर भी बग़ल के पलग पर माँ की गोद में मुँह डाले सो गया था। रह-रहकर वह अब भी सुसक-सुसक उठता था। मैं अपने पलग पर पड़ा-पड़ा अपने ख़िलाफ माँ-बेटे के संयुक्त मोर्चे की बात बड़ी देर तक सोचता रहा और मनाता रहा कि भगवान किसी को बनाये, तो इकलौते बेटे का बाप न बनाये! इकलौता बेटा तो बस माँ ही का होकर रह जाता है, बेचारे बाप के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

—सुबह उन्हें सोता छोड़कर गया तो मैं रात को ग्यारह बजे ही लौट सका। थका तो था ही, परेशान भी कम न था। रास्ते में ही यह सोच लिया था कि चाहे जो हो, आज तो उनसे झगड़े बिना न रहूँगा। लेकिन घर पहुँचा, तो श्रीमतीजी बरामदे में बैठी मेरा इन्तज़ार कर रही

थीं। मैं ग़ुस्से में मुँह फुलाये उनकी ओर से आँखें चुरा अपने कमरे की ओर जाने लगा, तो लपककर मेरे सामने आकर बोलीं, जानते हो, क्या बात थी ? और वह ज़ोर से हँस पड़ीं।

—मुझे उससे क्या लेना-देना है ? तुनककर कहते मैंने क़दम आगे उठाया, तो मेरे दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर वह हँसती हुई बोलीं, सुनोगे तो तुम भी हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाओगे ! और वह फिर ज़ोर से हँस पड़ीं।

—उनसे हाथ छुड़ा, अपने कमरे में आ, मैं कपड़े उतारने लगा, तो मेरे हाथ से कपड़े ले उन्हें खूँटी पर टाँगते हुए वह बोलीं. कल जो नया बूट पहनकर वह स्कूल गया था न, उसी के कारण सब हुआ।

—क्यों ! आख़िर मुझे बोलना पड़ा, वह तो उसी की पसन्द से ख़रीदा गया था ?

—अरे, वह बात नहीं, वह बोलीं, उसका वह शानदार बूट देखते ही लड़कों ने उसे चारों ओर से घेर लिया और लगे पूछने, कहाँ से लिया है...कितने में लिया है...? श्रीधर ने उन्हें बताया, तो उनमें से एक ने छेड़ दिया, हलाल की कमाई से कोई बाप अपने बेटे को इतना क़ीमती बूट नहीं पहना सकता ! इसपर किसी दूसरे ने रद्दा जमा दिया कि यह सब ठाट-बाट रिश्वत के पैसे के हैं। बस, इतनी-सी बात और बूट वहीं कहीं फेंक, रोता हुआ वह घर चला आया। मैंने जब बहुत पूछा, तो उसने सब बताकर कहा, पिताजी के पैसे से मैं कोई चीज़ नहीं लूँगा ! मैंने जब बहुत समझा-बुझाकर वादा किया कि उसके लिए चीज़ों का इन्तज़ाम मैं अपने पैसों से करूँगी, तब जाकर वह कहीं चुप हुआ।

—सुनकर मैं भी हँसने से अपने को रोक न सका,—कहानी ख़त्म कर वह कहते—तब से क़सम है कि उसने मुझसे कभी भी एक पैसा

माँगा हो या किसी चीज़ के लिए कहा हो। तभी से एक दीवार उसने मेरे और अपने बीच खड़ी कर ली। वह मन-ही-मन मुझसे नफ़रत भी करता है। कभी खुलकर मुझसे बात तक नहीं करता। कम्बख्त को आज भी यह ग़लतफ़हमी है कि उसके ख़र्चे के सारे पैसे उसकी माँ ही के होते हैं, मुझसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अब आप ही बताइए, मेरी बात वह मानेगा ?

और लोग चुप हो जाते।

* * *

श्रीधर ने अपने जीवन में माँ के सिवा न किसी को जाना, न माना। और इकलौते बेटे की माँ भला अपने बेटे की किसी इच्छा या बात के विरुद्ध कुछ कह ही कैसे सकती थीं ? इस तरह श्रीधर जो-कुछ बना, आप ही बना; जो-कुछ उसने किया, अपनी इच्छाओं के अनुसार ही किया। न कभी किसी बात में किसी से राय ली, न किसी की मदद। माँ की छत्र-छाया में किसी बाधा, कष्ट या चिन्ता का अवसर ही उसे कैसे मिलता ?

लेकिन जब श्रीधर एम० ए० कर चुका और नौकरी की बात चलने पर ना कर गया, तो माँ चिन्तित हो उठीं। उन्होंने उसे बहुत समझाया-बुझाया कि उनके मरने के बाद उसका क्या होगा, पिता का तो एक पैसा वह लेगा नहीं, फिर कैसे उसका काम चलेगा, माँ के पास कोई कुबेर का ख़ज़ाना तो है नहीं, कि कभी ख़त्म ही न हो, आदि-आदि। लेकिन इन बातों से भी श्रीधर टस-से-मस न हुआ। बस उसने यही कहा कि उसकी चिन्ता किसी को भी करने की ज़रूरत नहीं, अपनी चिन्ता ख़ुद करना वह जानता है। उसे मालूम है कि उसे जीवन में क्या बनना है।

बहुत सोच-समझकर श्रीधर ने तै किया था कि उसे कोई भी सरकारी नौकरी नहीं करनी है। रिश्वत, ख़ुशामद, झूठ, बेईमानी और

ग़ुलामी से उसे लड़कपन से ही नफ़रत हो गयी थी और अपने पिता के उदाहरण से ही उसने यह मान लिया था कि कोई भी सरकारी नौकरी दुर्गुणों से बरी नहीं है। उसके देखने में बस एक ही ऐसी नौकरी थी, जिसमें आदमी आज़ादी, ईमानदारी और शांति से जीवन बिता सकता है, वह थी, किसी युनिवर्सिटी या कालेज की प्रोफ़ेसरी। अपनी इस धारणा को भी वह, अपनी और सभी बातों की तरह, किसी पर प्रकट न करता था। इसलिए जब माँ या दूसरे लोग उसकी बातें सुनते, तो सोचते कि आख़िर कौन-सा तीर मारनेवाला है यह!

श्रीधर चुपके-चुपके अख़बारों के 'आवश्यकता' के कालम देखा करता और आवेदन-पत्र भेजा करता।

आख़िर एक दिन उसने अपनी माँ को बताया कि वह पन्द्रह जुलाई को इलाहाबाद जा रहा है। वहाँ सिटी कालेज में उसे नौकरी मिल गयी है। सुनकर माँ को ख़ुशी हुई कि चलो, बेटा कुछ करने तो जा रहा है, लेकिन पिता ने मुँह बिचकाकर कहा—आख़िर कम्बख्त को नमक-सत्तू की ही ज़िन्दगी पसन्द है, तो कोई क्या करे!

श्रीधर के रवाना होने का दिन आया, तो पिता ने श्रीधर को सुनाकर उसकी माँ से कहा—मेरे एक दोस्त वहाँ टी० आर० ओ० हैं। किसी मदद की ज़रूरत पड़े, तो इससे कह दो कि उनसे मिले। घरों की बड़ी क़िल्लत है, उनकी मदद से आसानी से मिल सकता है।

सुनकर श्रीधर ने नाक चढ़ाकर हवा से कहा—मुझे किसी की कोई ज़रूरत नहीं!

इलाहाबाद श्रीधर के लिए बिलकुल नयी जगह थी। उसने आगरा में अपनी शिक्षा पूरी की थी। फिर भी उसे किसी बात की कोई चिन्ता न थी। जैसे हर बात उसकी ज़िन्दगी में ठीक होती आयी थी, उसी तरह आगे भी ठीक होती जायगी। इसमें उसे रत्ती-भर भी शक न था।

ठीक एक दिन पहले वह स्टेशन पर उतरा। और जो सब से पहला होटल का एजेंट मिला, उससे बस एक सवाल अपने कॉलेज का पता बताकर पूछा कि होटल कालेज से नज़दीक तो है, और जब उसे 'बिलकुल नज़दीक, सर' का जवाब मिला, तो उसी के साथ हो लिया।

दूसरे दिन ठीक वक़्त पर वह ताँगे से कॉलेज पहुँचा। सब बात हो चुकने पर जब वह उठने लगा, तो प्रिंसिपल ने कहा—आप ठहरे कहाँ हैं?

श्रीधर ने होटल का नाम बताया, तो प्रिंसिपल ने कहा—वह तो बड़ा महँगा होटल है। कहिए तो स्टाफ़ में से किसी से कहूँ, कई अविवाहित हैं, तब तक उनमें से ही किसी से साथ रहें। यहाँ घर मिलना तो बड़ा मुश्किल है।

श्रीधर ने धन्यवाद देकर कहा—आप चिन्ता न करें।

स्टाफ़-रूम में दूसरे अध्यापकों से परिचय हुआ। बेचारे अध्यापक उसके स्वभाव से अपरिचित थे। सब उसकी सहायता करने की बात चलाने लगे। विशेषकर घर के मामले में। लेकिन श्रीधर ने उनकी ओर कोई ध्यान न देकर सब से यही कहा—धन्यवाद! अपने किसी भी काम के लिए किसी को कष्ट देने की मेरी आदत नहीं। आप लोग कोई चिन्ता न करें!

अध्यापकों को बड़ा अजीब लगा। एक सौ पचास माहवार पानेवाला आदमी चार रुपये रोज़ के कमरे में रहेगा। इसे कोई घर पाने की चिन्ता ही नहीं, जबकि इस ज़माने में आदमी दोस्त-दुश्मन, किससे नहीं, एक घर के लिए पूछने को तैयार रहता है, सब की कृतज्ञता सिर-आँखों लेने को उत्सुक रहता है! और कहाँ यह है कि मुँह नहीं खोलता जैसे कि किसी ने इसके लिए ही कोई घर बना छोड़ा हो और इस इन्तज़ार में हो कि यह आये और रहे। अध्यापक चुप हो गये। ख़ामख़ाह दर्दे-सिर

मोल लेने की क्या ज़रूरत ! किसी ने सुझाया, बड़े घर का लड़का मालूम होता है। नौकरी नहीं, शौक़ करने आया है। घर से रुपया आयेगा। होटल में मज़े होंगे।

लेकिन मलूकदास की तरह किसी बुद्धिमान ने कहा है न कि भगवान को सब की ज़रूरतों का पता रहता है, वह सब की ज़रूरतें, ज़रूरतवाला चाहे कुछ करे या न करे, पूरी करता है। ग़रीब को रहने के लिए झोपड़ी देता है, राजा को महल; धोबी को सवारी के लिए गधा देता है, तो राजा को हाथी। सो, उस कृपालु भगवान को श्रीधर की ज़रूरत का पता, और उसे पूरा करने की चिन्ता न हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है !

छुट्टी होने पर एक दिन जब होटल जाने के लिए श्रीधर ताँगे पर बैठा, तो यों ही ताँगेवाले से उसने कहा—बड़े मियाँ, ज़रा इधर-उधर दो-एक सड़कों का चक्कर लगाते हुए चलो। मुझे एक घर की ज़रूरत है। शायद कहीं ख़ाली दिख जाय।

बूढ़ा ताँगेवाला अपनी घनी, सफ़ेद मूँछों में मुस्कराता हुआ बोला—सरकार, यह सिविल लाइन है। यहाँ तो साग़रपेशे भी ऊँचे-ऊँचे किरायों पर उठे हुए हैं। भला...भला...

—तुम चलो तो !—श्रीधर ने उसे झिड़क दिया।

ताँगा चल पड़ा। सड़क के दोनों ओर 'किराये के लिए ख़ाली है' की तख़्ती की तलाश में श्रीधर की आँखें दौड़ने लगीं।

दो पूरी सड़कों का चक्कर लगाने के बाद ताँगेवाले ने कहा—अब क्या हुकुम है, हुज़ूर ?

—ज़रा इस सड़क पर तो चलो,—उत्तर की ओर मुड़नेवाली सड़क की ओर इशारा करते हुए श्रीधर ने कहा।

—बेकार है, सरकार,—ताँगेवाले ने कहा—आप ख़ामख़ाह के लिए

परेशान हो रहे हैं। इस ज़माने में हर बात मुमकिन है, बस, एक ख़ाली घर को छोड़कर !

—तुम्हें अपने पैसे से ही तो मतलब है ! ...चलो ! – श्रीधर ने उसका मुँह बन्द कर दिया।

और अभी तीन ही बँगले पार किये थे कि एक फाटक की झाड़ियों से झाँकती हुई एक 'कमरे ख़ाली हैं' की तख्ती वैसे ही श्रीधर को दिखायी दी, जैसे गहन अन्धकार में सहसा चाँद चमक गया हो। वह 'रुको' कहता चलते ताँगे से गड़ाप से कूदकर फाटक की ओर दौड़ा। ताँगेवाले ने लगाम खींचते-खींचते अचरज से उसकी ओर देखा।

टहनियों को हाथों से हटाकर श्रीधर ने अपनी प्रसन्नता-भरी आँखों से देखा, सचमुच 'कमरे ख़ाली हैं' की ही तख्ती थी। तख्ती बहुत ही पुरानी थी। अक्षर भी सब क़रीब-क़रीब मिट-से गये थे। फिर भी वह तख्ती ही थी और श्रीधर आसानी से पढ़ भी सकता था—कमरे ख़ाली हैं।

इतनी जल्दी, बिना किसी विशेष कोशिश के, सफलता के चिह्न देख श्रीधर को ख़ुशी के साथ आश्चर्य भी कम न हुआ। एक क्षण को यह भी ख़याल आया कि कहीं यों ही तो तख्ती लटकी नहीं रह गयी है ? लेकिन दूसरे क्षण समाधान हो गया कि झाड़ियों में छिपी रहने के कारण शायद उसपर किसी की नज़र न पड़ी हो। सब की और श्रीधर की आँखों में आख़िर कुछ फ़र्क़ तो होना ही चाहिए !

वह फाटक के अन्दर घुसा। कोठी पुराने ज़माने की मालूम होती थी। सामने की उजड़ी लान बता रही थी कि सालों से किसी ने उसकी परवाह न की थी। बरसाती झाड़ियाँ चारों ओर फैली हुई थीं। उखड़े प्लास्टर के पीछे ऐसा सन्नाटा और उजड़ापन छाया था, कि मालूम ही नहीं होता था कि वहाँ कोई जीवित प्राणी रहता है।

श्रीधर बरामदे पर चढ़ गया। बन्द दरवाज़ों के टूटे-अधटूटे शीशों से अन्धकार झाँक रहा था। दीवार से लगी हुई तीन बाँस की पुरानी, टूटी-फूटी कुर्सियाँ पड़ी थीं, फ़र्श का प्लास्टर जगह-जगह उखड़ गया था। दो चक्कर लगाने के बाद श्रीधर को जैसे कोई आवाज़ सुनायी दी। वह एक दरवाजे के पास खड़ा हो ध्यान से सुनने लगा। वह किसी के बहुत धीमे-धीमे कुछ पढ़ने की आवाज़ थी। शायद कोई बूढ़ी औरत टो-टोकर कुछ पढ़ रही थी। श्रीधर ने दरवाज़े पर उँगली से टक-टक किया।

— कौन है ?—अन्दर से एक काँपती आवाज़ आयी।

—ज़रा खोलिए,—कहकर श्रीधर दरवाज़े से परे हट गया।

दरवाज़ा खुला। एक लम्बी, बूढ़ी एंग्लोइण्डियन महिला सिर आगे बढ़ाकर बोली—कहिए।

श्रीधर सामने आ बोला—यहाँ कोई कमरा ख़ाली है ?

पोपले मुँह में अन्दर को मुड़े हुए स्याह-से पड़े होंठों पर एक मुस्कान की रेखा उभरी। बूढ़ी ने कुर्सियों की ओर इशारा कर के कहा—बैठ जाइए,—और वह ख़ुद भी हिलती-डुलती, कमज़ोर पैरों की टेढ़ी-मेढ़ी जूतियों को सँभाल-सँभालकर रखती, धीरे धीरे चलकर कुर्सी पर बैठ गयी। इतने ही में उसकी साँस फूल उठी। ज़रा देर सुस्ताकर वह बोली—आप कहाँ काम करते हैं ?

—यहीं सिटी कालेज में नया-नया आया हूँ।

—अकेले हैं या...

—अकेले हूँ।

हाथ के रूमाल से होंठों के कोनों से बहती लार को पोंछते हुए बूढ़ी बोली—एक कमरा ख़ाली तो है।

—मैं देख सकता हूँ ?

—इस वक़्त कौन दिखलायेगा ? लड़की क्लब चली गयी है। बावर्ची छुट्टी पर गया है। मेरी हालत तो आप देखते ही हैं। चार क़दमों में ही दम फूलने लगता है। अब बिलकुल ताक़... ... ...—कहकर बूढ़ी मुँह पर रूमाल दबा खाँसने लगी।

—आप बता दें तो मैं ख़ुद ही देख लूँ।

—नहीं, मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि उस कमरे की चाबी कहाँ है। फिर उसमें अभी सामान भरा है। बिना बावर्ची के रहे कुछ भी मुमकिन नहीं है। कई आदमी आ चुके हैं। एक आदमी तो पेशगी किराया भी जमा कर रहा था। लेकिन मैंने लिया नहीं। सच पूछिए तो वह आदमी मुझे पसन्द नहीं आया। कोई राशनिंग इन्सपेक्टर था। बहुत लालच दिला रहा था कि उसके यहाँ आने से हमें चीनी वग़ैरा का बहुत आराम हो जायगा। लेकिन जाने क्यों, वह कुछ क़ायदे का आदमी लग ही नहीं रहा था। लेकिन आपको मैं कमरा ज़रूर दे सकती हूँ। मेरी नातिन इस साल केंब्रिज का इम्तहान देगी। आपके यहाँ आने से उसकी पढ़ाई में कुछ मदद...

—जरूर, ज़रूर !—श्रीधर ख़ुश होकर बोल पड़ा—लेकिन ज़रा जल्दी हो जाता, तो अच्छा होता। होटल में रहना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता।

—थोड़े वक़्त तो सब्र करना ही होगा,—बूढ़ी आह-उह करती उठ खड़ी हो बोली—अन्दर आ जाइए। कुछ ज़रूरी बातें बता देना मैं ठीक समझती हूँ।—और वह उसी तरह पाँवों को घसीटती दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी।

अन्दर नंगे और टूटे-फूटे फ़र्श पर पुराने कोच पड़े थे। उस वक़्त भी रोशनी जल रही थी। बड़े कोच पर बैठते बूढ़ी ने बग़ल की कोच पर श्रीधर को बैठने का इशारा किया। थोड़ी देर तक सुस्ताने के बाद,

रूमाल से होंठों के कोने पोंछकर वह बोली—यह कमरा देख रहे हैं न, बिलकुल ऐसा ही वह कमरा भी है। इतना ही लम्बा-चौड़ा, यही सर-सामान, साथ में लगा हुआ एक बाथरूम और बग़ल में एक छोटा-सा बरामदा। आप चाहें, तो वहाँ खाना बना सकते हैं।

—मेरे लिए इतना काफ़ी है,—श्रीधर ने कमरे को इधर-उधर से देखते कहा—किराया क्या होगा, मेम साहब?

—ज़माने के लिहाज़ से तो किराया ज़्यादा लेना चाहिए, मगर मैं आपके लिए सिर्फ़ तीस रुपये में दे दूँगी। और अगर आप हमारे साथ खाना लेना भी पसन्द करेंगे, तो कुछ और किफ़ायत हो जायगी। हम तो बस दो ही हैं, मैं और मेरी नातिन। बेटे का ट्रान्सफ़र हो गया। उसी का कमरा ख़ाली है। उसकी तो हिदायत है कि कमरा उठाया न जाय, लेकिन बेकार पड़ा रहने से मैं यह बेहतर समझती हूँ,कि उठा दूँ। इस घर में कुल पाँच अच्छे कमरे हैं, वह लौट भी आया, तो इन्तज़ाम हो जायगा।

—तो फिर कहिए, तो मैं पेशगी जमा कर दूँ?—श्रीधर को तो ज़ल्दी पड़ी थी।

—सो तो मैं कहती ही। लेकिन इसके पहले एक-दो और बातें बता देना मैं ज़रूरी समझती हूँ, ताकि फिर कुछ कहने-सुनने को न रह जाय। यह घर किराये का है। क़ानूनन हम इसका कोई भी हिस्सा किराये पर नहीं उठा सकते। इसलिए आप यहाँ किरायेदार की हैसियत से नहीं, मेहमान के बतौर रहेंगे। मकान-मालिक या राशनिंग आफ़िस के किसी आदमी से भी आप किराये पर कमरा लेने की बात न कहेंगे। मकान-मालिक बड़ा ही बदमाश है। वह हमें निकाल देने का कोई-न-कोई बहाना बराबर खोजा करता है। हम इस घर में बीस साल से रहते हैं। वह हमें निकालकर ज़्यादा किराये पर उठाना चाहता है। कई बार वह

मुकद्दमा भी, कोई-न-कोई बहाना निकालकर, चला चुका है। दूसरी बात यह है कि आपको किराये की रसीद नहीं मिलेगी, आप तो समझ ही सकते हैं...

—उसकी क्या ज़रूरत है ? आप जैसा चाहेंगी...

—सो तो ठीक है। लेकिन पहले ही कह देना अच्छा होता है। यह तो आप की सूरत से ही मालूम होता है कि आप एक शरीफ़ आदमी हैं। ऐसा न होता, तो मैं आप से कमरे के बारे में बात भी नहीं करती। मैंने बताया था न, कई आदमी मेरे पास कमरे के लिए आ चुके हैं।

—आपकी बड़ी मेहरबानी है,—श्रीधर ने आँखें झपकाते हुए कहा—आप इतमीनान रखें, मेरी ओर से आपको कभी कोई शिकायत का मौक़ा न मिलेगा।

—वह तो मैं पहले ही समझ चुकी थी। एक नज़र देखकर ही मैं आदमी को पहचान सकती हूँ। आदमी का चेहरा उसके दिल का आईना है।...और हाँ, खाने के बारे में भी सोच देखिएगा। मेरा खयाल है, कि आपको हर तरह का आराम रहेगा।

—हाँ-हाँ, पहले आ जाने तो दीजिए। फिर आप जैसा कहेंगी...

—वह तो अब आया ही समझिए। कल दिन में मैं आपका कमरा बिलकुल ठीक करा दूँगी। कल शाम को आप आ जाइएगा सामान लेकर।...तो फिर अब आप चाहें, तो पेशगी...

—हाँ हाँ— श्रीधर ने जेब से मनीबेग निकाल, तीन दस दस के नोट बूढ़ी की ओर बढ़ा दिये।

अपने काँपते हाथ से नोट पकड़ती बूढ़ी बोली— थैंक्स !

—तो फिर मैं कालेज के बाद सामान लेकर कोई छै बजे तक आ जाऊँगा।

— ज़रूर-ज़रूर ! मैं सब ठीक करा दूँगी। अब मुझे तुम अपनी माँ

ही समझो।

—अच्छा, तो अब इजाज़त दीजिए,—कहते हुए श्रीधर उठ खड़ा हुआ।

—क्या बताऊँ, बावर्ची होता, तो आपको चाय...

—कोई बात नहीं। अब तो मैं हमेशा के लिए आपका मेहमान ही बनने आ रहा हूँ!—कहकर श्रीधर हँसा, तो बूढ़ी भी हँस पड़ी। फिर उसे ज़ोर की खाँसी आ गयी। फिर वह आँख, नाक और मुँह से बहते पानी को रूमाल से पोंछने लगी, तो श्रीधर सलाम करके बाहर निकल आया। बहुत ख़ुश था, आश्चर्यजनक सफलता की ख़ुशी की भी क्या कोई सीमा हुआ करती है!

दूसरे दिन कॉलेज में कोई ख़ास बात न हुई। अध्यापक साथियों का जोश श्रीधर के स्वभाव का पहला ही परिचय पाकर ठण्डा हो गया था। श्रीधर ने भी अपनी आश्चर्यजनक सफलता के बारे में अभी कुछ बताना ठीक न समझा। होंठ और प्याली के बीच भी तो ख़तरे हो सकते हैं। हाँ, होटल के मैनेजर को उसने सूचना दे दी थी, कि वह शाम को होटल छोड़ देगा। सुबह मन में आयी थी कि वह जाकर उस कमरे को एक नज़र देख आये, लेकिन यह सोचकर न गया कि कहीं बूढ़ी यह न समझ बैठे कि उसे उसपर विश्वास नहीं।

शाम को होटल का बिल चुकाकर, वह ताँगे पर सामान लदवाकर चल पड़ा।

अन्दर ताँगा रुका, तो श्रीधर के उतरते ही एक १७-१८ साल की ख़ूबसूरत लड़की दरवाज़ा खोलकर, मुस्कराती हुई उसके सामने आ खड़ी हुई। पीछे से बूढ़ी की आवाज़ आयी—यह मेरी नातिन है,—और फिर अँग्रेज़ी में उसने कहा—यह हमारे किरायेदार हैं, बेबी।

बेबी ने सिर हिलाकर, मधुर-मधुर मुस्कान का रंग बिखेरते हुए

श्रीधर का अभिवादन किया।

श्रीधर ने कहा—कमरा तो...

—बिलकुल ठीक है,—बूढ़ी ने फिर बेबी से अंग्रेज़ी में कहा—इन्हें पहुँचा दो, बेबी।

बिलकुल अन्त के कमरे के खुले दरवाज़े के सामने खड़ी हो, बेबी ने हाथों से संकेत कर बताया कि यही कमरा है।

श्रीधर ताँगेवाले से सामान उतार लाने के लिए कह कमरे के अन्दर घुसा, तो एक तेज़, अप्रिय गन्ध की भभक ने उसका स्वागत किया। रोशनी जल रही थी। फ़र्श भीगा था। नम, उखड़ी-पुखड़ी दीवारें बता रही थीं कि सालों से सफ़ेदी का मुँह उन्होंने न देखा था। बरामदे में बस एक दरवाज़ा खुलता था। ठीक दरवाज़े के ऊपर एक रोशनदान था, जिसके चौखटों में शीशों की जगह मकड़ी ने जाले तान दिये थे, ताकि शीशों का अभाव न खटके। ऊपर मैली, फटी टाट खपरैलों के नीचे छत का काम देने की भर सक कोशिश कर रही थी। गन्ध जब न सही गयी, तो बाहर आकर वह बोला—यह क्या है कमरे में?

बूढ़ी तब तक आ गयी थी। वह बोली—महीनों से बन्द था। अभी फ़िनायल से धुलवाया है। सूखने पर ठीक हो जायगा। बरसात में तो हमारे कमरों में भी नमी आ जाती है। मकान-मालिक से बहुत कहा कि फ़र्श ठीक करा दे, लेकिन कमबख़्त सुनता ही नहीं। बरसात-भर आप को कुछ तकलीफ़ होगी। आप यहाँ बरामदे में ही सोयें तो अच्छा।

—सफ़ेदी नहीं हो सकती?—श्रीधर ने अनमना हो कहा।

—मकान-मालिक ने तो पाँच साल से नहीं करायी है। हमारे पास इतना पैसा नहीं कि ख़ुद करायें। आप समझ ही सकते हैं कि आख़िर हमने कमरा कुछ मजबूरी की वजह से ही तो उठाया है। आप चाहें तो

ख़ुद सफ़ेदी करा सकते हैं।

—बाथरूम का इन्तज़ाम कहाँ होगा ?—श्रीधर ने पूछा।

—वहाँ पेड़-तले एक कमरा है। आप कमोड लाकर रखवा लें। नल उसमें है। तब तक हमारा बाथरूम आप इस्तेमाल कर सकते हैं।

ताँगेवाला सामान रखकर, नाक पर पगड़ी का छोर रखे सामने आ खड़ा हुआ। श्रीधर ने पैसे दे दिये। बूढ़ी ने उसी से बरामदे में पड़ी कुर्सियों को मँगा लिया। एक पर बैठती वह बोली—बैठ जाइए। आप परेशान न होइए, सब ठीक हो जायगा।

जाने क्यों बेबी एकटक श्रीधर की ओर देखती मुस्कराये जा रही थी।

बूढ़ी ने विषय बदलने के लिए कहा—आप ही की वजह से बेबी आज क्लब नहीं गयी। इसी ने आपका कमरा साफ़ करवाया है। इसे यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि एक कॉलेज के प्रोफ़ेसर यहाँ रहने आ रहे हैं।

श्रीधर क्या जवाब दे ? उसकी समझ में कुछ भी न आ रहा था। उसके मन में यही बात बार-बार उठ रही थी कि पहले ही कमरा देख लिया होता, तो अच्छा होता। यों लम्बाई-चौड़ाई में कमरा काफ़ी कुशादा था। लेकिन वह गन्ध ! जैसे अब तक उसका दिमाग़ चकरा रहा था और गले से कुछ बाहर निकलने-निकलने को हो रहा था। आख़िर वह बोला—मेम साहब, यह बू...

बूढ़ी हँसकर बोली आप को तो ख़ामख़ाह के लिए वहम हो रहा है ! अरे भाई, महीनों से कमरा बन्द रहा है। अब खुला है। हवा और रोशनी जायगी, तो थोड़े दिनों में सब ठीक हो जायगा। थोड़ी ख़ुशबू वग़ैरह लाकर जलाइए। चाहिए तो सफ़ेदी भी करा लीजिए। थोड़ा ख़र्च-वर्च कीजिए। यों कमरा तो ख़ासा अच्छा है। थोड़ा-बहुत फ़र्नीचर मैं दे ही दूँगी। अच्छा, इस वक़्त आपके खाने का क्या होगा ?

मेरा बावर्ची तो चला गया, वर्ना...और, हाँ मिस्टर, हमारे यहाँ खाने के बारे में क्या सोचा ?

—अभी कुछ सोचा नहीं,—चिन्तित-सा श्रीधर बोला—देख जायगा। फ़िलहाल तो किसी होटल में...

—होटल का नाम न लीजिए, मिस्टर। आपकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो जायगी। फिर मैंने तो यही सोचकर आप को यह कमरा दिया है कि आप हमारे यहाँ ही खायेंगे भी। होटल से सस्ता ही पड़ेगा, मिस्टर। फिर घर का खाना मिलेगा। इसमें सोचने-विचारने की क्या बात है ?

—इस वक़्त माफ़ करें, कल मैं बताऊँगा। ज़रा देखूँ, कहीं धूपबत्ती मिल जाय, तो...—श्रीधर उठते हुए बोला।

बुढ़िया ने एक पास की दूकान का पता बताकर कहा—दो-चार हमें भी दे दीजिएगा। हमारे कमरे में भी बड़ी सड़न और बू है। क्या बतायें, हमारी तो आदत ही कुछ ऐसी पड़ गयी है, कि कोई बू-ऊ मालूम नहीं होती। वह कम्बख्त मकान-मालिक है कि सफ़ेदी तक नहीं कराता !

—आप ख़ुद क्यों नहीं करा लेतीं, मेम साहब ?—श्रीधर ने कहा—इस कमरे की भी सफ़ेदी आप को ही...

—हमारे पास पैसे होते, मिस्टर, तो क्या हम ख़ुद तकलीफ़ उठाकर यह कमरा आप को देते ? आप तो ख़ुद समझदार हैं। आप भले आदमी हैं, यही सोचकर तो मैंने आप को रखा है कि हमें आपसे कुछ मदद मिलेगी।

श्रीधर ने बिना कुछ कहे दरवाज़े में ताला लगाया और बाज़ार की ओर चल पड़ा। वह सोच रहा था कि बूढ़ी शायद ठीक कह रही है। दो-चार दिन में सब ठीक हो जायगा। सफ़ेदी भी वह ज़रूर करा लेगा। कॉलेज के नज़दीक सिविल लाइन में रहने को जगह मिल गयी, यही क्या कम है ? थोड़ी तकलीफ़ भी होगी तो कोई बात नहीं।

उधर से ही खा-पीकर लौटा, तो बूढ़ी उसका इन्तज़ार कर रही थी। उसने कुछ धूपबत्तियाँ उसे दे दीं। बूढ़ी ने बहुत-बहुत धन्यवाद देकर कहा—यह चारपाई अपनी ओर खींच लीजिए।

ढेर-सारी धूपबत्तियाँ जलाकर श्रीधर कमरे में घुसा। फिर भी उसे लगा कि ख़ुशबू का असर बेकार हुआ है। उसने धूपबत्तियाँ इधर उधर चारों ओर दीवारों में छेद ढूँढ़-ढूँढ़कर खोंस दीं और जल्दी से बिस्तर लेकर बाहर निकल आया।

बरामदे में अपनी ओर एक ही मच्छरदानी में बूढ़ी और बेबी सोयी थीं। श्रीधर बहुत देर तक करवटें बदलता रहा। उसने कमरे का दरवाज़ा खुला ही छोड़ दिया था कि हवा आ-जा सके।

सुबह एक बूढ़े आदमी ने उसे जगाकर पूछा—आप बेड-टी लेंगे?

श्रीधर नहीं कहकर, उठ बैठा तो बूढ़े ने अपना परिचय दे, मुस्कराकर कहा—मेम साहब ने आप को सलाम कहा है, और कहा है कि आप यहीं नाश्ता और खाना लेंगे। चलिए, आप को बाथरूम दिखा दूँ। शाम तक कमोड लाकर अपना बाथरूम ठीक करा लें। आज मेम साहब का ही बाथरूम इस्तेमाल कर लें।

नहा-धोकर श्रीधर बूढ़े के आगे-आगे मेज़ पर पहुँचा, तो बूढ़ी और बेबी ने मुस्कराकर गुड मार्निङ्ग कहा। गोरी बेबी नीली पोशाक में खिले हुए कमल की तरह ख़ूबसूरत लग रही थी। उसके लाल गुलाब की पंखुरी की तरह पतले, मुस्कराते होंठों से निकला गुड मार्निङ्ग श्रीधर को बड़ा अच्छा लगा। आज दिन बहुत ही अच्छी तरह कटेगा, इसमें श्रीधर को ज़रा भी सन्देह न रह गया। बेबी अपने ही हाथों से चाय ढालने लगी। उसके ख़ून की तरह सुर्ख नाख़ून ऐसे लगते थे, जैसे मोमबत्तियों से लौ निकल रही हो।

—आज हमारे यहाँ खाकर देख लीजिए। मेरा तो ख़याल है कि आप को पसन्द आयगा।—बूढ़ी ने कहा—फिर आपकी पसन्द का ख़याल तो मैं रखूँगी ही।

हाँ-हाँ करते श्रीधर ने प्याली उठायी।

चाय के बाद बेबी श्रीधर को अपने कमरे में ले गयी। बेबी का कमरा ख़ुशबुओं से गमक रहा था। श्रीधर ने कहा—आपका कमरा तो बहुत अच्छा है।

बेबी ने मुस्कराकर कहा—आप इंगलिश नई बोलने सैकटा?

और श्रीधर उससे अंग्रेजी में बातचीत करने लगा। बेबी बहुत ही तेज़ अंग्रेजी बोलती थी और उसकी आवाज़ बड़ी मीठी थी, जैसे हर शब्द शहद में चुपड़ा हो। बेबी ने बताया कि वह रोज़ कमरे में लैवेंडर छिड़कती है। श्रीधर को आश्चर्य हुआ कि बूढ़ी तो बहुत मजबूर मालूम होती है और बेबी अपने कमरे में लैवेंडर छिड़कती है! लेकिन बेबी ने ख़ुद उसका आश्चर्य दूर कर दिया। उसने बताया कि एक बैरिस्टर का लड़का उसके यहाँ आता-जाता है। उसे इस कमरे की बू पसन्द न थी। उसे ख़ुशबू पसन्द है। लैवेंडर उसे छिड़कने के लिए वही देता है।

फिर वह स्कूल का कुछ काम श्रीधर की मदद से करने लगी। नौ बजे वे खाने की मेज़ पर साथ ही आ बैठे। और खाना खाने के बाद बेबी ने जब शाम को सिनेमा का प्रस्ताव कर दिया, तो श्रीधर को स्वीकार करते बड़ी ख़ुशी हुई।

अपने कमरे में जाकर श्रीधर ने बहुत-सारी धूपबत्तियाँ फिर जलायीं। लेकिन उनका कुछ असर न होना था, न हुआ। आख़िर उसने यह निश्चय किया कि वह भी बेबी की तरह लैवेंडर अपने कमरे की दीवारों पर छिड़केगा।

कालेज में दोपहर की जब छुट्टी हुई, तो स्टाफ़ रूम में एक साथी ने

यों ही श्रीधर से पूछा—कहो, यार, क्या हाल-चाल है ? कहीं कोई ठौर-ठिकाना मिला या अभी होटल ही में पड़े हो ?

श्रीधर ने आँखें ऊँची करके जवाब दिया—पास ही सिविल लाइन में एक जगह मिल गयी है। कल शाम को ही मैं वहाँ आ गया हूँ।

—सच ?—साथी आश्चर्य से चीख उठा। सब अध्यापक साथी भी चिहुककर बोले—क्या हुआ ?

और जब उसने श्रीधर के सिविल लाइन में जगह पा लेने की बात बतायी, तो सब का हाल वही हुआ, जो उसका हुआ था। सब ने एक स्वर से आश्चर्य और ख़ुशी से कहा · श्रीधर, तुम खुशक़िस्मत हो, जो आनन-फ़ानन में तुम्हें सिविल लाइन में जगह मिल गयी ! इस अद्‌भुत सफलता के उपलक्ष में एक पार्टी ज़रूर होनी चाहिए !

और श्रीधर ने कहा—हाँ-हाँ, ज़रूर दूँगा ! ज़रा जम तो जाऊँ। —और फिर उसने विषय बदल दिया, ताकि कोई उस जगह का पता पूछ वहाँ आ न धमके। उसे बदबू का डर था।

० ० ० ०

शाम को बेबी के साथ वह सिनेमा देखने गया। बेबी के प्रस्ताव पर उधर ही सिनेमा के बाद उन दोनों ने होटल में खाना खाया।

ग्यारह बजे रात को दोनों लौटे, तो बेबी ने उसका हाथ चूमकर गुड नाइट कहा और तेज़ी से अपने कमरे में घुस गयी। श्रीधर अपने हाथ को देखता थोड़ी देर तो ठक खड़ा रहा, फिर उसके होंठों पर एक मीठी मुस्कान थिरक गयी।

अपने कमरे में घुसा, तो फिर वही फ़िनायल की बू का तेज़ भभका ! उसने दिन-भर दरवाज़ा खुला छोड़ रखा था। उसे विश्वास था कि अब बू ज़रूर कम हो गयी होगी। लेकिन यहाँ तो लगता था, जैसे कमरे की सभी दीवारें और फ़र्श फ़िनाइल में सने मसालों और ईंटों के

बने हों। उसने फिर ढेर-सारी धूपबत्तियाँ जलाकर दीवारों में खोंस दीं और बाहर आ, बिस्तर फैला, पड़ गया।

अचानक पानी की बौछार से उसकी नींद टूटी, तो बादल गरज रहे थे और मुसलाधार पानी बरस रहा था। बौछार से उसका सारा बिस्तर तर हुआ जा रहा था। बूढ़ी की चारपाई खड़ी की हुई थी। वे अन्दर चली गयी थीं। अब श्रीधर क्या करे? उठकर अन्दर गया, तो वही बू का भभका, जैसे फिर किसी ने फ़िनायल छिड़क दिया हो। ऊपर मच्छरों का शोर, कितने ही तो तुरन्त ही उससे लिपट गये। अन्दर सोना असम्भव था। बाहर ज़ोरों की बौछार। मन में आया कि बूढ़ी से दरवाज़ा खुलवाये, लेकिन, फिर रात और वर्षा की बात सोचकर वह घबरा गया।

कभी भीगे बिस्तर पर वह बैठ जाता और कभी उठकर टहलने लगता। जाने क्यों, उसे कुछ-कुछ आशा थी कि बूढ़ी या बेबी ख़ुद दरवाज़ा खोलेगी और उसे अपने कमरे में बुला इस आफ़त से छुटकारा दिलायेगी।

इसी आशा के सहारे श्रीधर रात-भर बौछारों की चोट सहता रहा। आख़िर सुबह होने के क़रीब जब बारिश थमी, तो एक ग़ुस्से में फुँकता हुआ वह भीगा बिस्तर उठाकर, चारपाई पर पड़ रहा। लेकिन अब नींद क्या आनी थी।

बूढ़ा बेड-टी के लिए उठाने आज नहीं आया, क्योंकि उसे मालूम हो गया था कि साहब बेड-टी नहीं लेते। श्रीधर कपड़े वग़ैरह के साथ मेम साहब के बाथरूम के दरवाज़े पर पहुँचा, तो वहाँ खड़ी जवान मेहतरानी उसकी ओर देखकर मुस्करायी। सुबह-सुबह ही उसकी वह मुस्कराहट श्रीधर को बड़ी बुरी लगी। बल्कि उसकी समझ में यह बात ही नहीं आ रही थी कि यहाँ का हर आदमी उसे देखकर क्यों

मुस्करा उठता है। कल बेबी भी उसे देखकर क्यों मुस्करायी थी और वह बूढ़ा बावर्ची भी ? वह ज़रा तेज़ स्वर में बोला—साफ़ करना है क्या ?

मेहतरानी ने मुस्कराते ही कहा—जी, साहब।

—तो जल्दी कर ना ! —श्रीधर ने जैसे बिगड़कर कहा।

मेहतरानी झाड़ू लिये बाथरूम में घुस गयी। श्रीधर ने ज़रा हटकर कहा—मेरे लिए वहाँ बाहर के कमरे में कमोड लगाना है। उसे आज साफ़ कर देना।

—जी, साहब !—अन्दर से ही मेहतरानी बोली।

नहा-धोकर दीवारों पर लैवेंडर छिड़क, बरामदे में खड़ा श्रीधर कंघी कर रहा था कि मेहतरानी उसी तरह मुस्कराती सामने आ खड़ी हो बोली —कमोड कहाँ है, साहब ?—श्रीधर अब उसकी वह शरारत-भरी मुस्कान देखकर जल गया। चिल्लाकर बोला—तू इस तरह मुस्करा क्यों रही है ?

मेहतरानी पर जैसे कुछ असर ही न पड़ा। वह ऐसे बोली, जैसे कोई राज़ की बात कह रही हो—ज़रा धीमे बोलिए। कहीं मेम साहब न सुन लें।

—सुन लेंगी, तो क्या बिगड़ जायगा ? आख़िर तेरा मतलब क्या है ?—श्रीधर और भी ज़ोर से बोल पड़ा।

मेहतरानी की मुस्कराहट में अब एक व्यंग का भी रंग चढ़ गया। वह वैसे ही बोली—आपका तो कुछ न बिगड़ेगा, लेकिन मुझपर तो वह ज़रूर बिगड़ उठेंगी। मैं कल ही आप को बताना चाहती थी। बात आपके फ़ायदे की ही है। आप नाहक़ मुझपर बिगड़ रहे हैं। बात यह है, साहब, कि यह कमरा बेबी के बाप का ग़ुसलखाना था।

—क्या ?—श्रीधर जैसे आसमान से एक घूरे पर चारों खाने चित

गिरकर बोला।

—हाँ, साहब,—चारों ओर शंकित दृष्टि से देखकर, फुसफुसाकर मेहतरानी बोली—तीन साल से तो मैं ही इसे साफ़ कर रही हूँ। परसों इसमें से कमोड हटवाया गया और बम्बा कटवाया गया, तो मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्या बात है। फिर जब कल सुबह आप को देखा, तो सब समझ में आ गया। आपको कोई बदबू मालूम नहीं देती, साहब ? आप इस कमरे में न रहें, साहब ! आपकी तबीयत खराब हो जायगी।...

तभी बूढ़े बावर्ची ने आकर, उसी तरह मुस्कराकर कहा—नाश्ता तैयार है, साहब।

लेकिन अब श्रीधर को कुछ सुनने का होश न था। वह बार-बार अपने सिर को ऐसे झकझोर रहा था, जैसे उसका सिर अभी घूरे के अन्दर से निकला हो और पेट से जैसे कुछ बाहर निकलने के लिए अचानक उबलने लगा हो। फिर मतली ने ऐसा ज़ोर मारा कि ओ-ओ करता वह बरामदे के किनारे सिर पकड़े बैठ गया। और दूसरे ही क्षण उसे इस तरह उलटी आयी, मानो पेट ही उलट गया हो।

बावर्ची दौड़कर पानी लाया। बूढ़ी और बेबी सुनकर दौड़ी आयीं और पूछने लगीं कि क्या हुआ। लेकिन श्रीधर कुछ भी बोल न सका। उसकी उबलती आँखों में एक आग जल रही थी।

तबीयत ज़रा ठीक हुई तो वह दौड़कर ताँगा लाया और सामान लदवाने लगा। बूढ़ी और बेबी पूछ रही थीं कि क्या बात हुई ? लेकिन श्रीधर का झुका हुआ सिर एक बार भी न उठा। उसका जैसे दम घुट रहा था। आँख, नाक और मुँह में रह-रहकर पानी भर जाता था। सिर फटा जा रहा था।

जब ताँगा चला, तो सिर झुकाये ही श्रीधर बार-बार थूक रहा था

और बूढ़ा बावर्ची और मेहतरानी मुस्करा रहे थे और बेबी उस रूमाल को बार-बार अपनी नाक से लगा रही थी, जिसमें पिछली रात श्रीधर के भेंट किये लैवेंडर की ख़ुशबू बसी हुई थी और बूढ़ी घूर-घूरकर मेहतरानी की ओर देख रही थी।

•

फूल

बेवा का लड़का बाघ होता है। लेकिन बेवा की लड़की बाघिन हो, यह न कहीं देखा गया, न सुना गया।

गाँव के लोग देखते और दुखित होकर अचरज करते; जवार के लोग सुनते और दुखित होकर अचरज करते। सभी के मुँह से अफ़सोस के साथ एक ही बात निकलती— यह नाव किस घाट लगेगी ?

लेकिन फुलबसिया की माँ से सीधे कुछ कहने को किसी का मुँह न होता। बेचारी फुलबसिया की बेवा माँ ! भगवान न करे, किसी का इस तरह घर उजड़े !

उस साल की ताऊन की महामारी। बड़े-बूढ़े आज भी याद करते और हे राम-हे राम कहते। कितने घर साफ़ हो गये, कितने परिवारों का नामोनिशान मिट गया...बूढ़े उसकी दर्दनाक कहानी सुनाते तो उनके चेहरे बदल जाते, आँखें बदल जातीं, देखकर देह में झुरझुरी आ जाती।

बच्चो ! यह हमारा भाग था, जो यह कहानी सुनाने के लिए हम जिन्दा रह गये, नहीं तो उस समय कौन सोच सकता था कि इस गाँव

का कोई नामलेवा भी रह जायगा !...हमारी चमड़ी की झुर्रियों में सूखे-सैलाबों, अकाल-महामारियों और महँगी-लहतियों की कितनी कहानियाँ लिपटी पड़ी हैं, कोई क्या गिन सकेगा ! लेकिन वह ताऊन की महामारी जैसे आज भी उन-सभी कहानियों की सुर्खी की तरह हमारी आँखों के सामने है और उसे हम कभी न भुला पायेंगे ! ...दिन-रात एक हू का आलम । आठों पहर आँखों के सामने मौत नाचती । पग-पग पर लाश । ढोते-ढोते हमारे कन्धे पक जाते । कब कौन गिर पड़ेगा, क्या मालूम ! इधर का रोना-पीटना खत्म नहीं होता कि उधर से चीख-पुकार मचती । यहाँ-वहाँ के लोग मिलते, तो कुशल-समाचार पूछते सहमते । रात को मुसलमान लोग परई में लोहबान जलाकर, कुरान पढ़ते हुए गली-गली में घूमते और दिन में हिन्दू लोगों के पुरोहित और ओझा काली माई और डीह पूजते। लेकिन ताऊन था कि उसका प्रकोप घटने का नाम हीं नहो लेता । पटापट चूहे गिरते रहते ।

देखते-देखते गाँव खाली होने लगे और बाग-बगीचे और खेत-खलिहान बसने लगे । इस गाँव में भी हल्ला हुआ— गाँव छोड़ो, गाँव छोड़ो ! नहीं, कोई भी नहीं बच पायगा, सब मर जायँगे !...

लेकिन गाँव छोड़कर कहाँ जाया जाय ? यह गाँव बड़ा है । आबादी बहुत घनी है । खेत अभी कटे नहीं, खेत काटने का होश ही किसे था । बाग-बगीचे बहुत दूर-दूर हैं । गाँव छोड़कर बहुत दूर जाना खतरे से खाली नहीं । पहर बहुत बुरा चढ़ा है । कौन जाने, कब, कौन आकर घरों का सफाया कर जाय, माल-मता उठा ले जाय !

तभी परोसे-भर की तेल-पिलायी लाठी हाथ में लिये फुलबसिया का बाप गाँव में पहुँचा । बोला— सोचने-समझने का बखत नहीं है । गाँव छोड़ो ! गाँव छोड़ो !

लोग उसके चारों ओर इकट्ठा हो गये । लहीम-शहीम, हट्टे-कट्टे

पहलवान को अपने बीच में पा लोगों को साहस बँधा। पहलवान का डेरा गाँव के बाहर, एक आध पाव भूमि दूर, एक ऊँचे, बहुत बड़े टीले पर था। एक मामूली झोपड़ी और बीस-पच्चीस गायें और तीन-चार भैंसें। अनगिनत बाँस के कोठे, अनगिनत आम-महुए के पेड़ और झाड़-झंखाड़। पहलवान ने जैसे दुनिया से कटकर, अलग-थलग अपनी एक दुनिया बसायी थी। उसे जैसे गाँव से कोई मतलब ही न था। वह गाँव कदाचित् ही कभी आता हो। औरत ही गाँव में दूध बेचने जाती, वही सौदा-सुलुफ लाती और पहलवान अपने अखाड़े और ढोरों के धन्धे में मस्त।

लोगों ने कहा—कहाँ निकला जाय ? खेत अभी कटे नहीं...

—अरे, हमारे टीले पर चलो !—पहलवान बोला—हम तुम लोगों को बुलाने ही तो आये हैं ! महाबीरजी की किरपा है टीले पर ! कभी कोई बीमारी नहीं फटकी वहाँ हमारे होस में !

लोगों ने शंका प्रगट की—उतनी दूर...

—उसकी तुम लोग चिन्ता मत करो। हमारे रहते किसकी हिम्मत है, जो गाँव में घुसे। तुम लोग अपनी देह लेकर चलो। जान बचाओ ! जान है, तो जहान है !

अब चिन्ता की क्या बात थी ? पहलवान ने खुद होकर यह बात कह दी, तो चिन्ता की क्या बात थी ? लोग गाँव छोड़ने की तैयारी में जुट गये। किसी ने खटिया-मचिया उठायी, किसी ने कथरा-बोरा उठाया, किसी ने बरतन-भाँडा...

एक क़ाफिला ही टीले की ओर चलता दिखायी दिया और देखते-ही-देखते घरों में ताले पड़ गये। गाँव में धूल लोटने लगी। और टीला आबाद होने लगा। कोई खटिया ही खड़ी करके आड़ करने लगा, कोई लाठियाँ गाड़कर पर्दा करने लगा, कोई कोठे से बाँस काटकर घसीटे ला रहा था...फुलबसिया का बाप चारों ओर घूम-घूमकर देख

रहा था, सबसे पूछ रहा था, किसी चीज-बस्त की जरूरत हो, तो बताओ...

शाम होते-होते ऐसा लगा, जैसे वहाँ खानाबदोशों का कोई बड़ा खीमा गड़ा हो। चारों ओर चूल्हे जल उठे, आसमान धुएँ से छा गया, बच्चों के शोर से दिशाएँ वैसे ही गूँज उठीं, जैसे पंछियों के कलरव से बाग़।

खा-पीकर लोगों को छुट्टी मिली, तो घर की चिन्ता सताने लगी। कौन-कौन क्या-क्या चीज़ें घर में छोड़ आये हैं, लोग इकट्ठा होकर बातें करने लगे, आशंका और चिन्ता प्रकट करने लगे। लेकिन फुलबसिया का बाप उनकी वह चिन्ता भूला न था। रात गिरते-गिरते वह पाँजे में लाठियाँ लेकर आया और बोला—दस जवान हमारे साथ चलें, गाँव में पहरा दिया जायगा।

गाँव में जाना जैसे यमपुरी में जाना था। लेकिन गाँव से कोई सम्बन्ध न रहते हुए भी जब पहलवान तैयार था, तो कौन ऐसा भड़ुआ था, जो ना करता?

टोली के आगे-आगे चलते हुए फुलबसिया के बाप ने इकट्ठे हुए लोगों से कहा—तुम लोग निचिन्त होकर सोओ। तुम्हारे माल-मता की हिफाजत की जिम्मेदारी हमारी है!

एक हफ्ते तक ऐसे ही चलता रहा। धीरे-धीरे टीले के चारों ओर बसी हुई परेशान आबादी थिरा गयी। कोई बीमार न पड़ा, कोई वारदात न हुई और लोगों को यह उम्मीद बँधने लगी कि अब महामारी अपना प्रकोप निवार लेगी। लेकिन आठवें दिन सुबह ही इस आबादी में फिर एक हड़कम्प मच गया। चारों ओर यह ख़बर फैल गयी कि फुलबसिया के बाप को बुखार आ गया है।

झोपड़ी के चारों ओर औरतों-मर्दों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। सभी ऐसे व्याकुल, जैसे अपना ही कोई सवाँग गिर पड़ा हो! ...हवन करते

हाथ जलना इसी को कहते हैं !...कौन जानता था कि सब की जान बचाने-वाला ही महामारी की चपेट में आ जायगा ?...ओझा-पंडित मनौती-पूजा में जुट गये। मुसलमान लोहबान जलाकर कुरान पढ़ने लगे। सब के मुँह पर एक ही बात, हे भगवान ! फुलबसिया के बाप की रच्छा करो ! बलि लेना ही हो, तो हम में से किसी की ले लो !...जैसे इतने महामारी के चढ़ गये, एक और सही।...घर का अकेला मर्द, गोद की फुलबसिया का बाप ! हे भगवान ! हे भगवान !...

लेकिन जो होना था, होकर रहा। बुख़ार बढ़ा, गले में गिलटी उभरी, बढ़ी और अड़तालीस घंटे बीतते-न-बितते वह परोसे का जवान चित हो गया। सारी आबादी छाती कूट-कूटकर रोने लगी, जैसे हर घर का एक कमासुत पूत चला गया।...लोगों के पछतावे का ठिकाना न रहा, क्यों हम वहाँ आये ? ऐसा जानते तो...

महामारी जैसे यही बलि लेने आयी थी। उसे बलि मिल गयी और वह जैसे तृप्त होकर चली गयी।...

धीरे-धीरे सब शान्त हो गया। गाँव आबाद हो गया। लेकिन फुलबसिया के बाप का दाग़ लोगों के दिलों से न मिटा। फुलबसिया और उसकी माँ अब सारे गाँव की बेटी थीं, जिनका सर्वस्व गाँव पर निछावर हो गया था, अब सारा गाँव उनपर अपने को न्योछावर कर देना चाहता था। उनका कोई काम न रुके, उन्हें कोई तकलीफ़ न हो, गाँव इसका ध्यान रखने लगा। फुलबसिया हर गोद की लाडली बन गयी।

थोड़े दिनों बाद जब दुख का ज्वार उतर गया, एक दिन गाँव के बूढ़ों ने इकट्ठा होकर फुलबसिया की माँ से कहा—बेटी, अब आगे की का सोचती हो ?

फुलबसिया की माँ की आँखों की वही हालत थी, जो जाड़े की सुबह दूब की होती है कि ज़रा-सा हरका लगे, ज़रा-सी हवा चले और टप-

टप शबनम की बूँदें टपक पड़ें।

एक बूढ़े ने कहा--ऐसे कब तक चलेगा ? होनहार के आगे किसकी चलती है ! इनसान सबुर न करे...

तड़पकर फुलबसिया की माँ बोली--यह घाव भरनेवाला नहीं, दादा !

दूसरे ने कहा--सो तो हम समझते हैं, बेटी। लेकिन इनसान पीछे देखकर नहीं जीता, वह आगे देखता है !

फुलबसिया की माँ उसी तरह बोली—हमारे आगे तो हमेशा वही खड़े रहते हैं। उनकी यह फुलबसिया न होती, तो हम कब के ताल-पोखर पकड़ चुके होते। कैसी साँसत में जान फँसी है, हम का बतायें, दादा !

सब से बड़े ने कहा—ऐसी बात मुँह से न निकाल, बेटी। कहीं ऐसा हुआ, तो यह तेरा गाँव किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। जिसने अपनी बलि दे गाँव को बचा लिया, उसके रिन से गाँव कभी उरिन न होगा ! ऊपर से अगर तुझे कहीं कुछ हुआ, तो हमें नरक में भी जगह न मिलेगी !.....हम चाहते हैं कि उसका नाम आगे चले। फुलबसिया अगर बेटा होती, तो हम तुझसे कुछ न कहते। अब...

फुलबसिया की माँ ने गोद में पड़ी फुलबसिया के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—उनका नाम चलना होगा, तो इसी से चलेगा। वो कहते थे, इसे बेटा की तरह पालेंगे। इसे हम पाल लें तो जिनगी सवारथ समझें।

बड़े ने कहा—माँ सलामत रहे, तो बच्चे का लालन-पालन वह कर ही लेती है। तेरे यहाँ फिर कमी किस बात की है। हमें तो बस चिन्ता यह है कि तुम्हारा काम-धाम कैसे होगा, औरत की जात, गोद में बच्चा,

कैसे सब सँभलेगा तुझसे ? इसी लिए हम-सब यह सोचकर तेरे पास आये थे कि अगर तू चाहे, तो जिसे भी हो, अपने यहाँ रख ले। तेरे लिए कोई ना करनेवाला नहीं।

फुलबसिया की माँ बोली—गाँव का ही अब सहारा है, बाकी हम किसी को रखेंगे नहीं।—और उसने सिर झुका लिया।

(२)

दिन बीतते गये। फुलबसिया की माँ कैसे काम-धाम सँभालती, लोगों के सोचने की बात हो गयी। जिससे जो बन पड़ता, करता, लेकिन फुलबसिया की माँ घर-गिरस्ती की लगाम अपने ही हाथों में थामे रही।

एक दिन चरवाहा ढोरों को चरागाह ले जाने फुलबसिया की माँ के यहाँ पहुँचा, तो देखा,पाँच बरस की फुलबसिया हाथ में छिकुन लिये खड़ी है, माँ ने उसकी भगई कसके बाँध दी है, बदन पर एक नयी लाल गंजी है। छोटे-छोटे बालों की छोटी-छोटी चोटियों के बड़े-बड़े, रंग-बिरंगे मोतियों से गुथे हुए बटुए लटक रहे हैं। आँखों में मोटा काजल, ललाट पर काजल का बड़ा टीका, हाथ-पाँव और चेहरे पर तेल की चमक। चरवाहा देखता ही रह गया।

फुलबसिया कंधे पर छिकुन रख, आँख मटकाती हुई बोली—हम भी चलेंगे !

चरवाहे ने उसे गोद में उठाकर चूमा। फिर नीचे खड़ा कर के पुकारा—अरी, सुनती है, भौजी ! कन्हैयाजी आज गौओं को चराने जायँगे !

फुलबसिया की माँ हाथ में दूध का कटोरा लिये बाहर आयी और हुलसकर बोली—हाँ ! कई दिन से मचल रही है। लेता जा।...ले रे, दूध तो पी ले।

रोज़ की तरह फुलबसिया ने आज दूध पीने में माँ को बिलकुल तंग

न किया। वह गट-गट दूध पीने लगी, इतनी तेज़ी से कि मुँह में घूँट समा ही न रहा था।

आँचल से मुँह पोंछ, बलैया लेती हुई माँ चरवाहे से बोली—यह मानती नहीं और यहाँ हम कूल्हते रहेंगे। जरा खयाल रखना इसका। गेये तो पहुँचा जाना। भूख लगे, तो रोटी खिला देना। ठहर, रोटी देते हैं।—कहकर माँ अन्दर जा फट एक पोटली और एक लाल छोटी अँगौछी लायी। पोटली चरवाहे के हाथ में थमा दी और अँगौछी फुलबसिया के सिर पर फैला दी। फिर बोली—इसे बाग में ही रखना। देखना, कहीं घाम न लगे!

आगे-आगे ढोर, पीछे-पीछे चरवाहा और उसकी अँगुली पकड़े, कंधे पर छिकुन ताने, फुदकती हुई जाती फुलबसिया! माँ खड़ी खड़ी देर तक तकती रही और उसकी आँखों से आँसू ढुलकते रहे और उसका मन कहता रहा, काश, फुलबसिया बेटा होती!

माँ के मन की इस कामना का संस्कार उस बेटे-बेटी के अर्थ से निर्बोध फुलबसिया पर क्या पड़ा, यह कहना कठिन है। लेकिन देखने-वाले देखते कि फुलबसिया की माँ फुलबसिया को बिलकुल एक बेटे की तरह सँवारती। आश्चर्य की बात तो यह कि लोगों ने यह भी देखा कि एक दिन फुलबसिया के माथे से मोतियों और फुँदनों से भरी चोटी उतरी, तो फिर कभी न चढ़ी। फुलबसिया एक बेटे की ही तरह दिखने लगी। कोई उसे देखकर यह न समझ सकता कि यह बेटी है। बताने पर आश्चर्य करता। फिर उसके माँ-बाप की कहानी सुनता, तो कहता—साध की बात है! बेचारी बेटी से ही बेटे की साध पूरी करना चाहती है!

फुलबसिया की यह सज्जा जब तक शोभा की वस्तु थी, सब के लिए सराहना की बात रही। सब उसे बेटा-बेटा किये रहते, भूले से किसी

के मुँह से 'बेटी' निकलता, तो वह तुरन्त अपने को ठीक कर लेता। फुलबसिया की माँ का उत्साह बनाये रखने के लिए अनायास ही लोगों के हाथ यह नुस्खा लग गया था। और तो और, फुलबसिया के नाम से कब 'बसिया' शब्द निकल गया, किसी को मालूम नहीं। लोग उससे बात करते, तो अपनी बोली का प्राकृतिक व्याकरण भी बदल लेते। .....और होते-होते एक दिन वह भी आया, जब वह सब-कुछ साधारण बन गया, इसमें कुछ भी अस्वाभाविक न रह गया, सब इसके अभ्यस्त बन गये।

लेकिन एक दिन वह भी आया, जब लोग अपने इस अभ्यस्त व्यवहार से ही सकुचाने लगे। इसका कारण यह था कि लोगों ने भले ही अपना व्यवहार बदल लिया हो, प्रकृति तो अपने निर्धारित पथ से विचलित न हो सकती थी।

चरवाहों की एक पीढ़ी ने दूसरी पीढ़ी को अपनी जगह दे दी। उनके गिरोह में आज भी फूल वैसे ही बनी रही, जैसे बचपन में वह बाल-चरवाहों में शामिल थी। ये एक साथ, एक ही तरह के वातावरण में खेल-कूदकर बड़े हुए थे। कब छिकुन की जगह उनके हाथ में लउर आ गयी, भगई की जगह उनकी कमर से धोती बँध गयी, धूल-माटी के खेलों ने ओल्हापाती, चूड़ीगड़न्त, बसही, कबड्डी और गुल्ली-डंडा का रूप ले लिया, तुतली ज़बानों से बिरहे, फाग और चैती फूट पड़े, उन्हें नहीं मालूम। ये-सब परिवर्तन ऐसे सहज रूप से हुए थे कि इसमें अजीब कोई बात ही नहीं थी। आज फूल के हाथ की लाठी, उसकी कमर की धोती का कच्छा, बदन पर की गंजी या कुरता, माटे के झोंझ की तरह सिर के बाल, उसका हर खेल में, हर काम और जशन में शामिल होना, एक तरह से देखा जाय तो सब-कुछ सहज, स्वाभाविक ही था। उसके साथ की सभी लड़कियाँ कब और कैसे उन्हें छोड़कर

सयानियों की ज़िन्दगी में लौट गयीं और अकेली फूल ही उनमें क्यों और कैसे रह गयी, किसी को नहीं मालूम। फूल की माँ चाहती, तो फूल भी आज इस गिरोह में, इस रूप में दिखायी न देती। लेकिन जो वह कहा जाता है न कि माँ के लिए बेटा हमेशा ही बच्चा बना रहता है, शायद फूल अपनी माँ के लिए अब भी बच्चा ही हो। लेकिन गाँव के लोग भी क्या उसी तरह ममता की मार से अन्धे हो गये थे?

नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है? उनका ख़याल था कि माँ ख़ुद ही फूल को एक दिन सही रास्ते पर कर लेगी। ऐसा सोचते-सोचते ही पानी सिर से निकल गया और वे भकुआ-भकुआकर देखते रह गये। जैसे फूल को वैसा बनाने में उनका भी बराबर का हाथ हो, बराबर का अपराध हो। फूल के घर के लिए उनके हृदय में अपार श्रद्धा, सम्मान और कृतज्ञता थी, यह ठीक है। यह भी ठीक है कि फूल की माँ की कोई बात टालने या उसके मन के विरुद्ध कुछ भी करने की बात कभी भी वे अपने मन में न ला सकते थे। लेकिन यह क्या हो गया? उनकी आँखों के सामने ही यह क्या हो गया? फूल को क्या बनना था और वह क्या बन गयी?

गाँव के लोग दुखित होकर देखते और अचरज करते, जवार के लोग सुनते और दुखित होकर अचरज करते। सभी के मुँह से अफ़सोस के साथ एक ही बात निकलती—यह नाव किस घाट लगेगी?

फूल की माँ से रोज़ ही लोग मिलते, सर-समाचार पूछते, काम-धाम की बातें करते, उसकी हर सहायता करते, लेकिन फूल के बारे में कुछ कहने को किसी का मुँह न खुलता। और फूल एक युवक की ही तरह, बिना किसी भेद-भाव के, बिना किसी हिचक के सब काम करती। चारा-कुट्टी वह करती, लकड़ी वह फाड़ती, दूध वह निकालती, घर का कोई काम नहीं था, जो एक बेटे के अभाव में पड़ा रहता। गाँव से

दूर, समाज से अलग-थलग ये माँ-बेटी बिलकुल माँ-बेटे की तरह रहतीं। गाँव के लोग अगर आप ही होकर उनके यहाँ न आते, उनकी सहायता न करते, तो शायद वे उन्हें बुलाने न जातीं और उनका कोई काम रुका न रहता।

बड़े-बूढ़ों को सबके ऊपर यह चिन्ता थी कि कहीं फूल को कुछ हो न जाय। अल्हड़ लड़के, अल्हड़ फूल! जवानी दीवानी! कौन जाने कब क्या हो जाय! लड़कों को वे हमेशा समझाते-बुझाते रहते, फूल के बाप की कहानी सुनाते रहते, उन्हें हर तरह से सावधान किये रहते, फिर भी एक भय, एक चिन्ता उन्हें बराबर सताती रहती और वे हर तरह से हमेशा चौकन्ने रहते। फिर भी एक दिन सुना गया कि.....

खेलों में हर लड़का फूल के दल में ही शामिल होने की कोशिश करता। इसका कारण यह था कि सदा फूल के ही दल की जीत होती थी। यह एक अजीब बात थी, लेकिन यह स्वयंसिद्धि की तरह सच थी। इसका स्पष्ट कारण फूल का लम्बा-तगड़ा, बलिष्ट, फुर्तीला शरीर और अदम्य साहस ही समझा जाता था। लेकिन बात दरअसल यह थी कि हर लड़के के मन में फूल के प्रति सम्मान का भाव था, हर लड़का उस अवसर से अपने को बचाना चाहता था, जब उसे फूल को पकड़ना पड़े। फूल को पकड़ने का साहस किसी में न हो, ऐसी बात नहीं, खेल में कौन ठकुरई? लेकिन बात यह थी कि कोई उसे पकड़ना ही नहीं चाहता था। खेल की बात ठहरी, कौन जाने कब होश खता हो जाय, इसलिए पहले से ही बचे रहना अच्छा। यही कारण था कि किसी भी दो दलों के खेल में फूल कभी 'मरती' न थी, वह सदा ही अपने 'मरे' गोइयों को 'जिला' लेती और विरोधी दल के गोइयों को आसानी से 'मार' देती। फूल जब भी विरोधी पल्ले की ओर जाती, मैदान साफ़ हो जाता। उसे पकड़ने को जैसे किसी में हिम्मत ही न होती और वह जिसे चाहती,

'मार' कर साफ़ बच निकलती। दूसरे दल का कोई उसकी ओर आता और वह उसे पकड़ लेती, तो वह वहीं बिजली-मारे की तरह टें बोल जाता।

शाम का वक्त था। बारिश दो दिन से हुई न थी। मुलायम, चिकनी, अधगीली मिट्टी पर सन्ध्या की रेशमी धूप बिछ रही थी। हवा धीमी थी। बाग़ के पासवाले खेत में कबड्डी जमी थी।

संयोग की बात थी। किसुना के दल में सब तगड़े लड़के पड़े थे और फूल के में सब मरियल। फिर भी खेल ख़ूब जमा था। मरियल लड़के भी जैसे फूल के 'बल' से 'अम्मर' होकर खेल रहे थे। चारों ओर लोगों की भीड़ लगी थी। ख़ूब हो-हल्ला मचा था, ख़ूब मज़ा आ रहा था।

फूल का जो भी गोंइया किसुना के पल्ले में 'पढ़ाने' जाता बचकर वापस न लौटता। दबोच लिये जाने पर भी वह ऐसे हाथ-पाँव मारता कि लोगों की हँसी न रुकती, फिर ऐसे 'मर' जाता, और इस तरह अकड़कर बाहर निकलता, जैसे वह फिर तुरंत 'ज़िन्दा' हो जायगा। और सचमुच जब भी फूल 'पढ़ाने' जाती, उधर किसी-न-किसी को 'मार' आती और अपने किसी 'मरे' गोंइये को 'जिला' लेती।...

होते-होते बहुत देर बाद आख़िर ऐसा हुआ कि एक किसुना को छोड़कर उसके सब गोंइये 'मर' गये और इधर फूल का पल्ला बिलकुल भरा-पूरा। मरियलों का उत्साह और हर्ष देखते बन रहा था, सब बन्दरों की तरह उछल-उछलकर दाँत दिखा-दिखाकर और आँख चमका-चमकाकर किसुना को चिढ़ा रहे थे। अब खेल ख़तम होने में देर न थी। ऐसे अवसर का लाभ उठाना फूल जानती थी। उसी के पल्ले की 'पढ़ाने' की बारी थी। वह सब को रोककर ख़ुद 'पढ़ाने' चली। तय था कि वह किसुना को ज़रूर-ज़रूर 'मार' आयगी और खेल खतम हो जायगा। लेकिन हुआ कुछ दूसरा ही।

किसुना को जाने आज क्या हो गया था कि वह 'मरना' न चाहता था। लोगों के हँसने के कारण या मरियलों के चिढ़ाने के कारण या और किसी कारण। अँधेरा घिरने लगा था, और उसका ख़याल था कि खेल अब ज़्यादा देर तक न चल सकेगा। इस बार अगर वह किसी तरह अपने को बचा गया, तो खेल ज़रूर बढ़ जायगा और फिर बराबर पर खेल ख़तम हो जायगा। लेकिन होनहार तो कुछ और ही था। उसने अपने को बचाने की हर कोशिश की। वह दूर-दूर छिटकता रहा और अपने को बचाता रहा कि फूल की साँस टूट जाय और वह उसे बिना छुए अपने पल्ले में लौट जाय। लेकिन फूल छोड़नेवाली न थी। उसने अचके में मौक़ा ताड़, उसके हाथ पर अपना हाथ दे मारा। फिर जैसे बिजली कौंध गयी हो, लोगों ने देखा, किसुना ने अपना दाहिना हाथ पीछे कर, बाँये हाथ से फूल का दाहिना गट्टा पकड़ लिया है! दोनों में रस्साकशी हो रही है। चेहरे लाल हो रहे हैं, कनपटियों की नसें मोटी हो-होकर उभर आयी हैं, आँखें उबल रही हैं। पैर जमे हैं। कोई टस-से-मस नहीं हो रहा। फिर भी दोनों में से कोई भी अपने दूसरे हाथ का उपयोग नहीं कर रहा है। फूल के साथ एक असुविधा थी कि उसे अपनी साँस भी क़ायम रखनी थी।...आख़िर इधर उसकी साँस टूटी और उधर किसुना ने उसका गट्टा छोड़ दिया। फूल धम्म से गिर पड़ी और काठ-मारा सा किसुना थथम गया।

गोइयों और लोगों पर एक ऐसा सकता तारी हो गया था, जैसे कि धरती ही अपनी धुरी पर थम गयी हो! चारों ओर छाये सन्नाटे में बस बाग़ की चिड़ियों की चीख़ें और किसुना और फूल की ज़ोर-ज़ोर से चलती साँसें सुनायी दे रही थीं।

आख़िर जब सकता टूटा, तो लोगों ने खेल वहीं बन्द करा दिया।

(३)

उस रात किसुना पर क्या बीती, गाँववालों ने उसकी कैसी लानत-मलामत की, फूल को नहीं मालूम। लेकिन फूल के मन में ज़रूर आज कुछ नया-नया-सा हो रहा था। रह-रहकर वह अपना दायाँ गट्टा देखती और उसके होंठों पर एक हल्की मुस्कान थिरक जाती, आँखों की पलकें झप-झप जातीं और मन में जाने कैसा एक अनजाना-सा भाव कौंध-कौंध जाता।

दूसरे दिन चरवाहों के गिरोह में किसुना दिखायी न पड़ा। फूल के मन में कई बार आया कि वह किसी से पूछे कि किसुना क्यों नहीं आया, लेकिन वह पूछ न सकी। चरवाहे भी आज कुछ अनमने-से मालूम पड़ रहे थे, वह रंग जम न रहा था। एक ऐसी ख़ामोशी उनके चेहरों पर छायी थी, जैसे वे सहमे हुए हों। यह बात फूल की समझ में न आ रही थी, लेकिन वह किसी से पूछ भी न रही थी। ख़ुद होकर कोई उससे बात नहीं कर रहा था और न आपस में ही कोई किसी से बात कर रहा था। फूल किसी के पास जाती, तो वह सिर झुका लेता।

उस दिन कोई खेल न हुआ। जल्दी ही सब अपने-अपने ढोरों को गाँव में हाँक ले गये।

फूल लौटी, तो अनमनी-सी हो रही थी। उसे न अपने मन की बात समझ में आती, न साथियों का व्यवहार। वह बस इतना ही समझ पा रही थी कि कुछ हुआ ज़रूर है, वर्ना किसुना क्यों नहीं आया, साथी-सब क्यों इतने ख़ामोश थे? फूल के जीवन में यह इस तरह का पहला अनुभव था और वह हैरान थी, बेचैन थी। उसे आज खाना अच्छा न लगा, उसे आज कुछ भी अच्छा न लग रहा था।

माँ ने कई बार उसे घूर-घूरकर देखा और आख़िर जब रहा न गया, तो सोते समय पूछा—क्यों, रे फूल, का बात है? तू आज कुछ...

फूल ने पलकें झपकाकर कहा—कुछ भी तो नहीं, माँ।

—फिर ऐसा क्यों हो रहा है, बेटा ? न अच्छी तरह खाना खाया, न रोज की तरह कोई मीठी बात ही मुझसे की। जी तो अच्छा है ?—माँ ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

—कपार जरा बथ रहा है।

—अच्छा, तू लेट रह। हम कपार में तेल डाल दें।...

तभी बाहर खटका हुआ और फिर आवाज़ आयी—फूल की माँ !...सो गयी का ?

फूल उठने को हुई, तो माँ ने उसे रोक दिया और कहा – तू लेटे रह, हम बाहर जाकर देखते हैं।

फूल की माँ दरवाज़े पर आकर बोली—के है ?

बाहर भादों की चटक चाँदनी फैली थी। कई लोग खड़े थे। एक ने कहा—अरे, हम लोग हैं, फूल की माँ।

पहचानकर फूल की माँ बोली—का बात है, कैसे तुम लोग आये ?

एक ने कहा—जरा पाकड़-तले चलो, तुम से कुछ जरूरी बातें करनी हैं।

—अच्छा तुम लोग चलकर बैठो। हम आते हैं। जरा फूल से कह दें।

घर के सामने पाकड़-तले मिट्टी का चबूतरा चाँदनी में संगमरमर की तरह चमक रहा था। लोग उसपर जाकर बैठ गये। हवा बन्द थी और चाँदनी भी जैसे पसीने से भीग रही थी। पाकड़ खामोश खड़ी थी। आस-पास फैले हुए ढोर रह-रहकर अपनी पूँछ फटकार देते थे, डँस लग रहे थे शायद।

फूल की माँ आकर बोली—का बात है, कहो।

सबसे बड़े बूढ़े ने कहा—बैठो, फूल की माँ, कहते हैं।..... हम लोग कुछ राय-बात करने आये हैं। फूलजी अब सयाने हो गये, उनके

सादी-ब्याह की अब चिन्ता करनी चाहिए न !

—अरे, तो करो न ! तुम्हीं लोगों को तो करना है ! उसका और कौन है !—फूल की माँ बोली ।

—सो तो हम करेंगे ही, लेकिन तुम्हारे मन की भी तो कुछ मालूम हो । तू का चाहती है, घर बसाना कि बिदा करना ? तू जैसा कहेगी, वैसा ही हम करेंगे । क्यों, भाई ?

सभी बूढ़ों ने सिर हिलाकर कहा—हाँ-हाँ, और का ?

थोड़ी देर तक सिर झुकाये फूल की माँ सोचती रही । फिर बोली —नहीं फूल के भाग को हम अपने घर में कैद नहीं करेंगे । वह अपने भाग से जहाँ जाय, हम बिदा कर देंगे ।

—लेकिन...—बड़े बूढ़े ने कहना चाहा ।

—लेकिन-वेकिन नहीं,—बीच ही में बात काटकर फूल की माँ बोली—हम घरजमाई नहीं बसायेंगे !

—हम लोग सोचते थे...

—सोचने की कोई बात है, तो ये कि कोई लायक मिले ! लायक कहीं भी रहेगा, तो फूल को सुख मिलेगा, हमारे भी बखत पर काम आयगा ।

—फूल की माँ, तुम्हारे देखने में.....गाँव में कोई नहीं, जिसके साथ...पास रहने की बात और होती है । तुम अकेली...

—हमारी चिन्ता तुम लोग न करो, फूल की ही करो । हमारे कारन फूल कहीं खाले पड़ जाय, तो कुफुत में हमारी जान चली जायगी ।... फूल को गाँव ने बेटी करके माना है, फूल गाँव की बेटी ही रहेगी । दस-पाँच कोस के अन्दर खोजने-पूछने पर जरूर कोई जोड़-जुगुत का मिल जायगा । देख-भालकर, समझ-बूझकर...

—सो, तुम चिन्ता मत करो, जहाँ हर तरह तसल्ली हो जायगी,

वहीं पक्का करेंगे।—ज़रा रुककर बड़े बूढ़े ने कहा—एक बात और तुम से कहनी है, फूल की माँ,—बूढ़े ने फुसफुसाकर कहा—फूलजी को हमने बेटे की ही तरह आज तक माना-जाना है, लेकिन है तो आखिर वह कन्या-जात!...अब सादी-ब्याह की बात चलेगी...क्यों, भाइयो?

सब बूढ़ों ने एक साथ सिर हिलाकर कहा—हाँ-हाँ, फूलजी गाँव की इज्जत हैं, कहीं कुछ.....

बड़े बूढ़े ने कहा—नहीं, उसका हमें भय नहीं है। फिर भी, भाई, माटी के बर्तन को आदमी सँभालकर ही रखता है।...फूल की माँ, तुम्हारे घराने से सम्बन्ध करने में कोई भी आगा-पीछा न करेगा, यह हम जानते हैं। फिर भी अपनी ओर से हम किसी को कोई सिकायत का मौका क्यों दें! ...मतलब यह है, फूल की माँ, कि अब फूलजी को कन्या की तरह घर में रख उन्हें कुछ सहूर सिखा कि जहाँ जायँ, गाँव की बड़ाई हो!

दूसरे बूढ़े ने कहा—और का! अरे, जब सारा गाँव ही तेरा काम करने को तैयार है, तो क्यों फूलजी बन-बन फिरें? समझती है न, फूल की माँ?

—हाँ-हाँ, औरत जात होकर हम का इतना भी नहीं समझते? आप लोग खातिर रखें, फूलजी अब कहीं बाहर नहीं जायँगे!—फूल की माँ ने कहा—जैसा आप लोग कहेंगे, वैसा ही होगा।

—अच्छा, तो हम लोग अब चलें?...कल से ही हम फिराक में लग जायँगे।

सब उठने लगे, तो फूल की माँ बोली—अरे, चिलम तुम लोग नहीं पिओगे? रुको, अभी भरकर लाते हैं।

(४)

फूल को अब 'लड़की' बनाना वैसा ही था, जैसा कि किसी जंगली जानवर को पालतू बनाना। कई दिनों तक फूल छान-पगहा तुड़ाती रही, बिदक-बिदककर उछल-कूद मचाती रही। यहाँ तक कि रो भी दी। लेकिन आखिर माँ ने उसकी नाक में नथिया पहना ही दिया। माँ के आगे उसकी एक न चली! जिस माँ ने उसे 'बेटा' बना दिया था, उसी ने आज 'बेटी' भी बना दी। ग व के लोगों ने देखा-सुना, तो चैन की साँस ली। वे तो सोचते थे...कितनी ज़बरदस्त माँ है यह!

फिर घर में लोगों का आना-जाना शुरू हुआ। और एक दिन जब शादी-ब्याह की बात की भनक फूल के कान में पड़ी, तो वह फिर अनमनी हो उठी। वह कभी घर में आती, कभी बाहर जाती, कभी पहरों अपने बाग़ में खड़ी-बैठी, इधर-उधर पगडंडियों को ताका करती, जैसे वह कोई खोयी चीज़ ढूँढ़ रही हो।...और एक दिन वह चीज़ जैसे उसे मिल गयी। वह अनियन्त्रित-सी बाग़ में से ही चीख़ पड़ी—किसुना!

माघ का महीना था। कई दिनों से आसमान में बादल घिरे थे। सुबह ठिठुर रही थी। लम्बे-लम्बे डग भरता किसुना सामने की पगडंडी से भागा-भागा कहीं जा रहा था। फूल की पुकार सुनी, तो अनसुनी कर उसने डग और लम्बे कर दिये। लेकिन फूल ने दौड़कर उसे पकड़ लिया।

सहमा हुआ किसुना बोला—का है, फूल?

फूल अपने गट्टे को सहलाती हुई, पलकें झपका, एकदम बोल उठी—किसुना, तू हमारे साथ बियाह करेगा?

किसुना को जैसे काठ मार गया हो। एक क्षण तक उसकी ओर जाने कैसी आँखों से देखकर वह बोला—नहीं, फूल, हम तेरे लायक नहीं!

—काहे ?

—यह हम नहीं जानते, ले कन जो जानते हैं, उसी से एक बात तुझसे कहना चाहते हैं,—फँसे गले से किसुना ने कहा—यह हो ही नहीं सकता ! और अगर सचमुच तेरे दिल में हमारे लिए कोई जगह हो, तो हम तुझे अपनी ही सौगंध दिलाकर कहते हैं कि फिर कभी यह बात अपनी जबान पर तू मत लाना, नहीं तो किसुना यह गाँव छोड़ देगा !...जा, घर जा !

किसुना को लम्बे-लम्बे डग भरते हुए फूल वहीं खड़ी-खड़ी देर तक देखती रही। फिर धीरे-धीरे क़दम उठाती अपने घर चली आयी। जाने क्यों, उसके मन में एक ही बात बार-बार उठ रही थी, कहीं कुछ मिल जाता तो इस गट्टे को काटकर फेंक देते।

(५)

गाँव के बड़े-बूढ़ों ने जहाँ-तहाँ पता लगाया, जाकर घर-बार देखा। फिर बहुत सोच-विचारकर, जाँच-परखकर और फूल की माँ की सहमति लेकर एक जगह सम्बन्ध पक्का कर दिया। जैसे घर में माँ-बेटी ये थीं, वैसे ही वहाँ माँ-बेटा थे। खाता-पीता घर, दो हलों की खेती-गिरस्ती, तीन-तीन जमुनापारी भैंसें, दर्जनों गायें और एक बढ़िया जोड़ी बैलों की। जनक अकेला घर में लुकेला मारकर पला था। देह उदँत साढ़ की तरह, चलता तो मांस-पेशियाँ मसर-मसर करतीं।

जोड़-जुगत, घर-वर ऐसा, मानो स्वयं विधना ने जोड़ी मिलायी हो। सबसे ऊपर बड़े-बूढ़ों को यह भी उम्मीद थी कि माँ के मरने के बाद, यह भी सम्भव है, जनक फूल के यहाँ ही आ जाय।

बरैछा और तिलक के बाद शादी का दिन पड़ा गया और फूल को जाने क्या हुआ कि वह बिलकुल ख़ामोश हो गयी, जैसे किसी बात में उसे कोई दिलचस्पी ही न रह गयी हो। घर में चहल-पहल बढ़ गयी।

आज कथा, तो कल माटीकोड़ और परसों माँड़ो...फूल अनमनी-सी सब रस्में पूरी करती रही। गाँव की भाभियाँ हल्दी लगातीं और मन-ही-मन सोचतीं, बाप रे बाप, यह क्या किसी लड़की की देह है! कोई परिहास करती—बबुनी, दुलहे को कहलवा भेजो कि खूब दूध-मलीदा खाकर ब्याह रचाने आये!—और सब खिलखिलाकर हँस पड़तीं और एक साथ कहतीं - और नहीं तो का, इस चाकी को क्या कोई मामूली मरद चला सकता है!

शादी के तीन दिन पहले की बात है। थकी-हारी फूल की माँ की नींद ज़रा देर से खुली। पास फूल नहीं थी। उठकर बाहर आयी तो दरवाज़े से ही सामने का दृश्य देखकर चीख उठी—फूल!

फैली बाँह की तरह पाकड़ की डाल में चौड़के पगहा बँधा था और उसके दूसरे सिरे की गरदवान में एक गट्टा फँसाकर फूल ज़ोर आज़मा रही थी।

—ई का हो रहा है, फूल!—चीखती हुई माँ उसके पास पहुँचे-पहुँचे कि पाकड़ ज़ोर से हिली और चड़ाक से मोटा, सन का मज़बूत पगहा टूट गया और फूल खिलखिलाकर हँस पड़ी।

उसकी यह खिलखिलाहट! माँ तो इधर उसकी बोली तक सुनने को तरस गयी थी! आँखें फाड़कर उसे देखती रह गयी।

—ज़रा गट्टा मज़बूत कर रहे थे, माँ। तू इस तरह घबरा काहे को रही है?—फूल ने नाक फुलाकर, टूटे पगहे की तरफ़ हिकारत की नज़र से देखते हुए कहा—ये-सब तुम्हारे पगहे पुराने पड़ गये हैं, माँ, इनमें तो कोई दम ही नहीं!

माँ ने पाकड़ की डाल को देखा, एक-दो...कई टूटे पगहे लटके हुए अपनी हार की कहानी सुना रहे थे।

—इन पगहों का नास काहे हो रहा है, फूल? यह तेरा कैसा खेल

है, बेटा ?

—तू इसे नहीं समझेगी, माँ। जीधन चाचा से कहकर कुछ नये, जरा मजबूत पगहे बनवा दे, तो कुछ मजा आये !—और फूल धीरे-धीरे चलकर बाग़ की ओर निकल गयी और माँ बेवक़ूफ़ की तरह देखती रही।

यह कैसा खेल ? माँ ज़रा देर तक शंकित-सी सोचती रही। फिर इसे भी फूल के तरह-तरह के खेलों में से ही एक समझ टाल गयी। कौन-सा खेल है, जो फूल नहीं खेलती, कौन-सा ऐसा काम है, जो फूल नहीं करती !...

तीन साल पहले की बात है। एक दिन लोगों ने फूल की माँ से पूछा—फूल की माँ, सोता पड़ने पर तेरी ओर से रोज़ ताड़ ठोंकने की आवाज़ें आती हैं। लोगों का कहना है सायद रात को पहलवान आकर अखाड़ा जगाते हैं। कभी तूने भी कुछ देखा-सुना है ?

फूल की माँ के लिए यह एक समाचार था। उसने चकित होकर कहा—नहीं तो, हमने तो कभी कुछ नहीं देखा-सुना !

—लेकिन तेरा अखाड़ा तो जिन्दा मालूम होता है ? कौन उसकी सेवा करता है ?

—तो इसी से सायद आप लोगों को सक होता है ?—हँसकर फूल की माँ बोली—बाप की यादगार है। फूलजी उसकी सेवा करते हैं, धूप जलाते हैं, फूल चढ़ाते हैं।

लोग चले गये। लेकिन माँ इस बात को टाल न सकी। वह रात में आँखें मूँदे और कान खोले पड़ी रही। आधी रात का पहरुआ ठनका तो क्या देखती है कि फूल उसके पास से उठी और दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल गयी। माँ धीरे से उठ, दरवाज़े पर जा देखने लगी। फूल ने अखाड़े के पास जा, महाबीरजी के झंडे से लंगोट खोलकर बाँधा

और डंड पेलने लगी। उसकी गेंहुअन की फुंकार की तरह साँसें साफ़ सुनायी पड़ रही थीं। फिर खड़ी होकर उसने ताड़ ठोंकी, तो ऐसा लगा, जैसे दो पहाड़ आपस में टकरा गये हों और चारों ओर दिशाएँ गरज उठी हों। माँ की आँखें डबडबा आयीं।...उसे फूल के बाप की याद आ गयी। वह बिस्तर पर जा लेट गयी और जाने कब तक सिसकती रही और जाने क्या-क्या सोचती रही...

(६)

कहारों पर क्या बीती, यह वही जानते हैं। फूल की डोली ससुराल पहुँची, और दौरी में जब उसने पहला ही डग डाला, तो उसके पैरों की हक़ीक़त औरतों को मालूम हो गयी। सब ने दाँतों से ज़बान काट ली। बेचारी रंगी-पुती दौरी दूसरे डग के लायक़ ही न रही—बाप रे बाप! भैया दुलहिन बियाहके लाये हैं कि हथिनी!

और नाउन ने मुस्कराकर कहा—हमारा दुलहा ही कौन हाथी से कम है!

जनक भी मन ही मन मुस्कराया।

कक्कन छुटने के बाद आधी रात के समय जनक घर में गया, तो फूल पलंग पर बेख़बर सो रही थी। आँचल अपनी जगह पर न था। सिर के नीचे बाँह तकिये की तरह पड़ी थी। जनक सोचता था, कब फूल का मुँह देखने को मिलेगा और यहाँ फूल थी कि आसमान के चाँद की तरह देख लो। वह देखता रहा और मुस्कराता रहा। फिर मिठाई का दोना एक ओर रखकर, धीरे से पलंग पर बैठ फूल का हाथ अपने हाथ में लिया ही था कि फूल चौंककर उठ बैठी और छिटककर, पलंग से दूर जा खड़ी हुई।

जनक ज़रा देर बैठा उसकी ओर देखता रहा, घूँघट नहीं, शरम से आँखें नीची नहीं, अंग सिमटे-सिकुड़े नहीं, आँचल ज़मीन पर...फूल

उसकी ओर घूरकर देख रही थी, जैसे आँखों-ही-आँखों में उसे तौल रही हो।

जनक ने उठकर हाथ पकड़ा, तो फूल ने इस तरह झटक दिया, जैसे कोई लस ही न हो। जनक नासमझ की तरह खड़ा रहा और फिर ज़रा ज़ोर से उसका हाथ पकड़ लिया, लेकिन फूल ने पहले ही की तरह अपना हाथ झटक लिया।

जनक ने कहा—चलो, पलंग पर तो बैठो।

—तुम हमारा हाथ मत छुओ!

—काहे? ऐसी नाराजगी काहे?

—हमारा हाथ पकड़ने की ताकत तुम में है?

ऐसा सीधा सवाल! सुहाग-रात की दुलहिन का सवाल!

जनक ज़रा देर के लिए ख़ामोश हो गया। फिर मुस्कराया। फिर धीरे से बोला—जहाँ तक हाथ पकड़ने का सवाल है, मैंने सौ आदमियों के बीच में पकड़ा है। और ताकत का हमें अपनी दुलहिन को ही दिखाना पड़ेगा?

—हाँ!—फूल ने दृढ़ता के साथ कहा—दिखाना पड़ेगा!

अरे बाप रे! यह कैसी परकाला से पाला पड़ा है!

फूल के गाँव से आठ कोस की दूरी पर है जनक का गाँव। फूल के बारे में कितनी ही बातें इस गाँव तक भी आयी हैं। जनक ने भी कुछ-न-कुछ ज़रूर सुना है। लेकिन फूल बिलकुल ऐसी होगी, उसने कभी कल्पना भी न की थी। बोला—जिद मत करो। जिद कोई अच्छी चीज नहीं होती। आओ, पलंग पर तो बैठो!

—नहीं!—फूल ने उसी दृढ़ता के साथ कहा—लो, दम हो तो हाथ पकड़कर पलंग पर बैठा लो!—और फूल ने वज्र की तरह अपना दाहिना हाथ सामने फैला दिया और धरती पर पाँव जमा दिये।

लालटेन की मद्धिम रोशनी में मशाल की लौ की तरह जलते फूल के चेहरे को जनक ने एक क्षण देखा। फिर विनम्र होकर बोला—अच्छी! यह हमारा सुहाग का घर है, इसे जोर अजमाने का अखाड़ा मत बनाओ! आओ, पलंग पर बैठो!

—पलंग पर हमारे बैठने का भगवान ने कोई दूसरा उपाय नहीं बनाया है!—फूल ने कहा—तुम में दम हो, तो हाथ पकड़कर पलंग पर बैठा लो! यही हमारा पन है!

ओह! सुहाग-रात की दुलहिन का पन! जनक मुस्कराया। बोला—पन है, तब तो पूरा करना ही पड़ेगा!—और लपककर उसने फूल का आगे बढ़ा गट्टा अपने दाहिने हाथ से पकड़ लिया। लेकिन दूसरे ही क्षण जनक को मालूम हो गया कि फूल के इस पन के पीछे कौन-सी ताक़त है!

गोबर से लिपी नम धरती उनके पाँवों के नीचे धसकने लगी। लगता था, भले ही बाँह कन्धे से उखड़ जाय, लेकिन उसका शरीर पाताल तक गड़ी शिला की तरह टस-से मस न होगा! मर्द जनक, यह उसके डूब मरने की बात थी। उसने हुमककर, आखिरी बूँद तक दम लगाकर, ज़ोर लगाया। लगा कि शिला ने धरती छोड़ दी है, लेकिन दूसरे ही क्षण फिर लगा कि नहीं, वह फिर जम गयी है। जनक जैसे अंधा हो गया, उसने अपना दूसरा हाथ उठाया...कि बिजली की तरह चमककर फूल ने अपना गट्टा उसके हाथ से छुड़ा लिया और सिंहनी की तरह दहाड़कर बोली—यह मर्द का काम नहीं! हट जाओ!

शर्म से पानी-पानी हुआ जनक काँपते पैरों से पीछे हट पलंग पर बैठ गया। उसके झुके हुए ललाट से तर-तर पसीना चू रहा था। उसकी साँसों में हार की चीख़ थी। फूल वहीं धरती पर बैठ गयी। लेकिन उसका माथा उठा हुआ था, पसीने की धाराएँ पलकों पर से बहकर

उसके होंठों पर नमक घोल रही थी। साँसों में विजय के उल्लास की दुन्दभी बज रही थी।

ज़रा सुस्ता लेने के बाद फूल बोली—मर्द हो, तो अब हमें माँ के पास पहुँचा दो! हमारा हाथ पकड़कर पलंग पर बैठाने की ताकत जब तुम में आ जाय, तो आना, हम खुशी से तुम्हारे साथ चले आयेंगे!

जनक नहीं बोला। हाथ मलता रहा।

—बोलो! - फूल ने ललकार-भरे स्वर में कहा—नहीं तो हम आप चले जायेंगे और समझ लेंगे कि तुम मर्द भी नहीं हो!

जनक ने सिर झुकाये ही स्पष्ट स्वर में कहा—पहुँचा देंगे।

(७)

आधी रात के बाद डोली चली थी। चुचुहिया बोली, तो डोली फूल के द्वार पर आ लगी। जनक ने ही दरवाजा खोलवाया। माँ ने देखा, तो उसे सनाका हो गया। डोली से निकल फूल घर में घुस गयी। जनक ने माँ का हाथ पकड़ा और पाकड़-तले ले जाकर उसके पाँव छूकर कहा माँ, घबराने की कोई बात नहीं। एक ऐसी बात पड़ गयी कि हम उसे पहुँचाये जा रहे हैं। जल्दी ही ले जायेंगे।

हक्की-बक्की माँ के मुँह से लकार ही न फूट रही थी। जनक ने कहा—हमें अभी लौटना है, माँ, छिमा करना। तू उसे कुछ न कहना, उससे कुछ न पूछना। यह हमारी-उसकी बात है, माँ। हम आकर एक दिन उसे जरूर ले जायेंगे!—और उसने झुककर फिर माँ के चरण छुए और चल पड़ा।

माँ को जैसे लक़वा मार गया हो। वह शून्य-सी आँखों से डोली के पीछे-पीछे जाते हुए जनक को देखती रह गयी।...

सुबह गाँव के पूरब से एक फुसफुसाहट उठी और सारे गाँव पर छा गयी—फूल ससुराल से भाग आयी!...यही होना था, यही होना था!

--दुख से सिर हिला-हिलाकर लोग फुसफुसा रहे थे—यह नाव इसी घाट लगनी थी !...

सोता पड़े पर किसुना की माँ की चीख़ सुनायी दी—हाय राम !... किसुना कहाँ चला गया !...सुबह तालाब गया था, अभी तक नहीं लौटा ! हे भगवान ! हमारा बेटा !...

* * *

देखते-देखते तीन वर्ष बीत गये।

इसी बीच माँ बिलकुल बूढ़ी-सी हो गयी है। उस घर के प्रति लोगों की सहानुभूति और भी बढ़ गयी है। फूल फिर अपने पुराने जीवन, पुराने तौर-तरीक़ों पर वापस आ गयी है। माँ उसे कुछ नहीं कहती, कोई भी उसे कुछ नहीं कहता।

पाकड़ की कई बाँहें टूटे, अधटूटे और सावुत रस्सों से भर गयी हैं। सोता पड़ने पर रोज़ ताड़ ठोंकने की आवाज़ें आती हैं।

आज भी जब भी माँ घर से बाहर निकलती है, पगडंडियों पर एक नज़र डाल लेती है।

फूल जब भी बाग़ में जाती है, उस पगडंडी की ओर एक बार ज़रूर नज़र उठाती है, जिसपर दौड़कर उसने एक सुबह किसुना से एक सवाल किया था।

●

इन्सान और मक्खियाँ

आख़िर मैं हमेशा के लिए तुमसे बिछुड़ गयी। तुम्हारी आत्मा की तड़प, हृदय की चीख़, आँखों का रुदन, आँचल का सिसकता प्यार, कुछ भी उस जलते शीशे की लपट से मुझे न बचा सका। तुम तड़पती रही, बिलखती रही, और मैंने दम तोड़ दिया। सुना था कि मरनेवाले की हर ख्वाहिश पूरी करने की कोशिश की जाती है, यहाँ तक कि मृत्यु-दण्ड के क़ैदी से भी उसकी आख़िरी ख्वाहिश पूछने की रीति है। मगर, माँ, मैं तो चावल के दो दानों के लिए तरसती मर गयी, सिर्फ़ दो दानों के लिए संघर्ष करती मर गयी! चावल के दो दानों की ख्वाहिश क्या इतनी बड़ी, इतनी असम्भव चीज़ थी, माँ, कि हमारी इतनी बड़ी सरकार...

लेकिन सरकार की आँखों में हमने बहुत बड़ा अपराध किया था। हम अपने हाथ फैलाये, भीख माँगने के लिए होंठों पर याचना के शब्द, आँखों में दीन, हीन, दुर्बल, भूखे का भाव लेकर, सिर झुकाये, अकेले-अकेले एसेम्बली के सामने क्यों न गये? हमने अपना संगठन क्यों

किया, हमने जुलूस क्यों निकाला, हमने आज़ाद, स्वाभिमानी, अपने हक़ों के लिए लड़नेवाले नागरिकों की तरह अपनी चावल की माँग को क्यों बुलन्द किया ? भूख से व्याकुल हो, जीवित रहने की अदमनीय चाह लिये हमने ज़िन्दगी के नारे क्यों लगाये ? हमने अपने दुख, अपनी परेशानियाँ, अपनी तंगियाँ अफ़सरों को, अपनी सरकार के नुमाइन्दों को सुनाने के लिए एक सौ चौआलिस का घेरा तोड़ने का दुस्साहस क्यों किया ?

ये जुर्म क्या मामूली संगीन थे, माँ ?.....लेकिन, माँ ! आज मुझे सन् १९४५ के एक दिन की याद आती है। उस समय मेरी उम्र सिर्फ़ नौ-दस साल की थी। फिर भी मुझे उस दिन की वह बात अक्षर-अक्षर याद है। वह बात ही ऐसी थी, माँ, कि एक बार सुनकर, समझकर उसे कभी भी कोई हिन्दुस्तानी भूल न सकता था। उस बात का असर ही कुछ ऐसा था। और हो भी क्यों न ? आख़िर वह बात हमारे सब से प्यारे नेता जवाहरलाल नेहरू के मुँह से, उनके हृदय की, आत्मा की सारी तड़प लिये हुए, निकली थी !

पिताजी अख़बार से सुना रहे थे और तुम्हारी गोद में सिर डाले मैं सुन रही थी। पिताजी ने सुनाया। जवाहरलाल नेहरू ने बयान दिया था—मुझे सख्त ताज्जुब है कि बंगाल में तीस लाख आदमी इस तरह, मक्खियों की तरह कैसे मर गये ? क्यों नहीं एक भी दूकान लूटी गयी...—और हमने अपने नेता की बात समझी। पिताजी, तुम और मैं एक क्षण के लिए खो-से गये। हमारे नेता का 'ताज्जुब' हमारा ताज्जुब हो चुका था। हमें ख़ुद सख्त ताज्जुब हुआ कि हमारे तीस लाख आदम मक्खियों की तरह बेहिस व हरकत कैसे मर गये ? अगर वे तीस लाख आदमी, निहत्थे भी, उस भूखों मार डालनेवाली ज़ालिम सरकार पर हमला बोल देते तो ?...और हमने समझा था, हमारे नेता की वह

बात कितनी आसानी से हमारे दिल और दिमाग़ में एक बहुत बड़ी सचाई उभार गयी थी—कि इन्सान मक्खी नहीं है, उसे एक मक्खी की तरह नहीं मरना चाहिए, उसे अपनी ज़िन्दगी की क़दर करनी चाहिए, उसे कोई भूखों मारे, तो उसे उससे लड़कर अपनी रोटी हासिल करनी चाहिए—लड़कर, जान देकर भी जीने का साधन छीनना चाहिए, यों चुपचाप, बिना हाथ-पाँव हिलाये मरने से इनकार कर देना चाहिए ! वह इन्सान है, उसे जीने का पूरा अधिकार है। जो सरकार इस अधिकार को कुचलकर इन्सान को मार डालना चाहे, उससे इन्सानों को विद्रोह करना चाहिए, सब को मिलकर उससे लड़ना चाहिए और उसे खत्म कर देना चाहिए !...और हमारे नेता की वह बात जीवन के एक अमोघ मन्त्र की तरह हमारे दिल और दिमाग़ के कण-कण में पैवस्त हो गयी और हमने उसे गिरह बाँध लिया।

और आखिर, छः साल बाद, आज २१ अप्रैल, १९५१ को वह वक्त फिर आ गया। छै दिन तक आध पेट और फिर चौथाई पेट खाकर हम दो दिनों से फ़ाक़े कर रहे थे। पिताजी झोला लटकाये राशन के लिए सुबह ही निकल जाते और हार-थककर दोपहर बाद खाली झोला लटकाये चले आते। हम भूखी आँखों से उन्हें देखते, वे भूखी आँखों से हमें देखते, और कहते—आज भी राशन की दूकान नहीं खुली।—और हमारी ज़बानें ख़ामोश हो जातीं, घर में एक ऐसा सन्नाटा छा जाता, जैसे हमारे बीच कोई मरणासन्न व्यक्ति पड़ा हो, जिसके दम तोड़ने का इन्तज़ार लोग खामोशी से कर रहे हों। सूनी रसोई की ओर नज़र उठती, तो आँखों में आँसू भर आते, दिल एक बेचैनी से तड़प उठता, दिमाग़ बावला हो उठता। क्या होनेवाला है, क्या होनेवाला है ? तुम एक आह भरती। पिताजी सूखे गले से कहते—उन्नीस सौ तैंतालीस के ही सब चिन्ह हैं। भूखी आँखों से

एक-दूसरे को घूरते लोग इधर-उधर सड़कों पर डोल रहे हैं। चारों ओर मौत का सन्नाटा छाया हुआ है। आसमान पर गिद्ध मँडरा रहे हैं। गली-कूचों में कुत्ते पटापट गिर-मर रहे हैं। दूकानें सूनी पड़ी हैं।.....लेकिन, लेकिन...—और उनकी सूखी आँखों में भक से कुछ जल उठता और उनके गले में ज़ोर आ जाता—लेकिन इस बार इन्सान मक्खियों की तरह मरने के लिए तैयार नहीं!...—और हमारे कानों में जवाहरलाल नेहरू की वह बात ज़िन्दा होकर गूँज उठती। मेरे और तुम्हारे मुँह से एक साथ ही निकल पड़ता—नहीं, हरगिज़ नहीं! हम मक्खियों की तरह हरगिज़ नहीं मरेंगे! अबकी हम बता देंगे कि हमारे नेता के उस महामन्त्र में कितनी ताक़त है, हमने उसे किस हद तक अब सिद्ध कर लिया है। आज़ाद मुल्क में, अपने उसी नेता के राज में, भूख से मक्खियों की तरह मरकर हम अपने उस महान, प्यारे नेता की बात को झूठी न होने देंगे! हम लड़कर अपने जीने का अधिकार.....

और तभी बाहर एक शोर उठा—चावल दो, या गद्दी छोड़ो!...

हमने दरवाज़े पर लपककर देखा, नारे लगाता जुलूस गुज़र रहा था। हज़ारों बूढ़े-बूढ़ियाँ, युवक-युवतियाँ, लड़के-लड़कियाँ आवाज़ बुलन्द कर रहे थे—चावल दो, या गद्दी छोड़ो!...

हमारी आँखें चमक उठीं, चेहरे तमतमा उठे, रोम-रोम में शक्ति की एक लहर दौड़ गयी। हमारे पैर आप ही उठ पड़े, जैसे वे नारे हमारी आत्मा के नारे हों और चुम्बक की तरह हमें खींच रहे हों। हम जलूस में शामिल हो गये। भूखों का यह जुलूस सच्चे, स्वाभिमानी, जागरूक, आज़ाद इन्सानों की तरह अपनी रोटी की माँग बुलन्द करने के लिए निकला था। उसमें सब पार्टियों के लोग थे। भूख पार्टीबन्दी की दीवारों को ढाह देती है। भूखों का एक ही धर्म, एक ही उद्देश्य,

एक ही नीति और एक ही पार्टी होती है। भूख आदमी-आदमी के बीच अन्तर नहीं करती और आज सभी भूखों ने यह सत्य समझ लिया था और एक क़तार में संगठित होकर अपनी सब से अधिक ज़रूरी चीज़, रोटी की माँग करने निकल पड़े थे।

माँ, पता नहीं, कहाँ और कब मैं तुम्हारा हाथ छोड़कर आगे निकल गयी। तुम्हारे साथ मैं पीछे न रह सकती थी। पन्द्रह-सोलह की उम्र कौतूहल की उम्र होती है। मैं अपने मन को वश में न रख सकती थी। मै अनजाने ही तुम्हारा हाथ छोड़कर धीरे-धीरे अगली क़तार मे पहुँच गयी। मेरे शरीर के ताज़े ख़ून का भी शायद यही तक़ाज़ा था कि आगे बढ़कर मै अपनी, अपने पिता और अपनी प्यारी माँ की रोटी की लड़ाई में हिस्सा लूँ। आगे मेरे ही आस-पास की उम्र की सैकड़ों बहनें थीं। मेरी जगह उनके पास ही तो थी, माँ !

पग-पग पर जुलूस बढ़ता और बड़ा होता गया। चावल के नारों को सुनकर कोई भूखा अलग ही कैसे रह सकता था ? और उस समय भूखों की संख्या क्या गिनी जा सकनेवाली थी, माँ !

एसेम्बली तक पहुँचते-पहुँचते हमारा जुलूस समुद्र का आकार ले चुका था। रोटी के नारों से भूखी ज़मीन और भूखे आसमान के कण-कण प्रतिध्वनित हो रहे थे। रोटी और भूख, भूख और रोटी, यही दो शब्द बड़े-बड़े अक्षरों में चारों ओर नाच रहे थे। हम अपनी माँग की आवाज़ अपनी सरकार के अपने ही चुने हुए प्रतिनिधियों, मन्त्रियों और अफ़सरों तक पहुँचाना चाहते थे। हम उनसे कहना चाहते थे कि तुम हमें रोटी दो, तुम पर कम-से-कम हमारे लिए रोटी की ज़िम्मेदारी तो है ! और तुम अगर रोटी न दे सको, तो यह गद्दी छोड़ दो, क्योंकि जो सरकार यह जिन्दगी की सबसे ज़रूरी जिम्मेदारी सँभालने के क़ाबिल नहीं, उसे गद्दी पर बैठे रहने का कोई हक़ नहीं !...हम उन्हें बताना

चाहते थे कि अब वह '४३ का ज़माना नहीं, जब हमारे तीस लाख भाई-बहन भूख से मक्खियों की तरह मर गये। अगर हमें भूख से मक्खियों की तरह मार डालने का तुम्हें ख़याल हो, तो इस ख़ाम ख़याल को अपने दिमाग़ से निकाल दो, क्योंकि हमें हमारे नेता ने बताया है कि इन्सान मक्खी नहीं है, उसे मक्खी की तरह नहीं मरना चाहिए, उसे लड़कर अपनी रोटी हासिल करनी चाहिए। वह बात हमारे रोम-रोम में भीन गयी है, हमारी ज़िन्दगी और मौत बन गयी है और हम आज यह सोचकर आये हैं कि अगर यों तुम हमारी रोटी का बन्दोबस्त न करोगे तो हम लड़कर उसे हासिल करेंगे, क्योंकि हमारे भूखे रहते तुम्हें हक़ नहीं कि तुम अपना पेट भरो। हम अपने खाद्य-मन्त्री के नाम अपना यह निवेदन भेजना चाहते थे कि आप अपने व्यक्तिगत विचारों, राजनीति, वाद, सिद्धान्त और पूर्वाग्रहों के कारण रूसी और अमेरिकन अनाजों में फ़र्क़ न करें। जो अनाज दे रहा है, उससे आप लापरवाह न हों, और जो अनाज देने के लिए मोल-तोल कर रहा है, उसके पीछे दौड़कर, वक़्त ख़राब करके हमारे-जैसे करोड़ों भूखे इन्सानों की ज़िन्दगी के साथ खेल न करें। हम उनसे यह भी कहना चाहते थे कि हम रूस को अब कुछ-कुछ जानने लगे हैं। हम अपढ़ और गँवार भी अब जान गये हैं कि रूस दुनिया के ग़रीब, भूखे इन्सानों का सच्चा दोस्त है और एक सच्चे दोस्त की ही तरह वह वक़्त पड़ने पर हमारी मदद करने को तड़प रहा है

लेकिन...लेकिन, माँ! वहाँ कोई हमारी बात सुनने के लिए तैयार नहीं था। उनका कहना था कि पहले यह जुलूस तोड़ दो, नारों को बन्द करो, इस विद्रोही वातावरण को ख़त्म करो, फिर हम बातें करेंगे। उन्होंने हमारे आगे हथियारबन्द पुलिसों का घेरा खड़ा कर दिया और हुक्म जारी कर दिया कि इस घेरे के अन्दर किसी ने क़दम उठाया, तो

वे और तरीक़ा काम में लायेंगे। वे इसे हर्गिज़ बर्दाश्त नहीं कर सकते। शांति की रक्षा वे हर मूल्य पर करेंगे।

शांति ! माँ, भूखों के देश में शान्ति का नाम लेने से बढ़कर क्या किसी और पाप की कल्पना की जा सकती है ? भूखों की शांति, मुर्दों की शांति के वे रखवाले हमारी ज़िन्दगी से कितनी नफ़रत करते हैं, उस क्षण हमें ज्ञात हो गया। रोटी की माँग करना शान्ति में खलल डालना है और भूखे, चुपचाप मक्खियों की तरह मर जाना शान्ति की रक्षा ! वाह!

लेकिन हम मक्खियों की तरह मरने के लिए वहाँ नहीं आये थे। हम अपनी ज़लालत, अपनी कायरता, अपनी ग़ुलामी के कारण सन् '४३ की तरह अपने प्यारे नेता को ताज्जुब करने का मौक़ा न देना चाहते थे और सच्चे, बहादुर, आज़ाद इन्सानों की तरह लड़कर ज़िन्दगी के साधन हासिल कर, हम अपने नेता को दिखा देना चाहते थे कि उसकी बात की हमारे दिलों में कितनी क़द्र, कितनी क़ीमत है.....

और हमने ऐलान किया—हमें अपनी बात कहने से कोई नहीं रोक सकता ! हम अपनी बात कहकर ही दम लेंगे। ये पुलिस, ये बन्दूकें, ये क़ानून, ये घेरे हमें नहीं रोक सकते !...और हमने नारे लगाये। ज्वार की तरह भीड़ उमड़ी और आगे बढ़ी...

और माँ, मेरी आँखों के सामने लपटें कौंध उठीं। मेरे सिर पर तड़ से एक ज़ोर का धक्का लगा। मैं गिर पड़ी। फिर मेरी गर्दन और पीठ में संगीनें घुस गयीं। मैं बेहोश हो गयी। आस-पास का वह तूफ़ानी शोर जैसे मक्खियों की भनभनाहट बनकर मेरे दिमाग़ में घुटने लगा और उस वक्त भी मेरी आत्मा जैसे मूक आवाज़ में चीख रही थी—मैं मक्खियों की तरह नहीं मरूँगी...मैं...

और जाने कितनी देर बाद तुम्हारी गोद में मेरी ख़ून से लुथड़ी हुई आँखें खुलीं। मेरी बग़ल में ही किसी की गोद में सात साल का नन्हा

सुरेश ख़ून से लथपथ पड़ा था, और अपनी माँ की गोद में ख़ून से नहायी हुई कविता पड़ी थी, और पन्द्रह साल का सतीश किसी की जांघों पर दम तोड़ रहा था, और बीस और बाईस के बादल और महाबीर रक्त और धूल में सनकर किसी की बाँहों में छटपटा रहे थे...माँ, अकेली तेरी ही गोद उस दिन सूनी नहीं हुई। छः माताओं की गुलज़ार गोदें उजड़ गयीं। बचपन, किशोरावस्था और भरी जवानी में फूलों की तरह छः ख़ूबसूरत चेहरे रक्त के कीचड़ में दफ़ना दिये गये। माँ, छः कोमल प्राणों की छः दुनिया एक क्षण में उजाड़ दी गयी !...और तुम रो रही थी, चीख़ रही थी, तड़प रही थी। तुम्हारे हाथों में मेरे रक्त से सने हुए बाल थे...उन बालों को तुम्हीं ने पाला-पोसा था, उन्हें रोज़ सुबह-शाम तुम्हीं सँवारती, और वे फ़व्वारों की तरह मेरे चेहरे पर चारों ओर छा जानेवाले लम्बे-लम्बे बाल जब तुम्हारी मुट्ठियों में न समाते, तो तुम कहती— बन्दो, जब तू ससुराल जायगी, तो इनकी साज-सँभार कौन करेगा ?— और मैं लजाकर तुम्हारा मुँह बन्द कर देती और पास के कमरे से पिताजी का क़हक़हा सुनायी देता और मैं रूठ जाती...

माँ, मेरा दम उखड़ने लगा, मेरी आत्मा छटपटाने लगी। मेरे मुँह पर झुकी पिताजी की अपलक आँखों से आँसू टपक रहे थे। उन आँखों को मैं देख न सकती थी। तुम्हारी आँखों को देखकर मेरा कलेजा फटा जा रहा था। मैं तुम लोगों को छोड़ना नहीं चाहती थी ! मैं तुम लोगों से, अपने उस मिट्टी के घर से, अपने प्यारे देश से, अपनी सखी-सहेलियों से अपनी ज़िन्दगी से, अपने प्राणों के कण-कण से मुहब्बत करती थी ! मैं उस मुहब्बत के लिए ज़िन्दा रहना चाहती थी...मुहब्बत से बिछुड़ना !...ओह माँ ! मेरी साँस घुटने लगी !...मैं आख़िरी क्षण तुमसे बहुत कुछ कहना चाहती थी...अपने बारे में, पिताजी के बारे में, अपनी सहेलियों के बारे में, अपने तोते के बारे में, अपने तुलसी के पौधे

के बारे में, अपनी किताबों के बारे में, अपने झुमके के बारे में, अपनी सुई और तागे के बारे में, और...और अपने 'उनके' बारे में, जो एक दिन मुझे देखने आये थे, जिनके साथ मेरा ब्याह होना तय हुआ था, और जिन्हें सिर्फ़ एक बार ही देखकर मैं उनकी हो गयी थी और उन्हें ही लेकर जाने कितने रंग-बिरंगे सपनों के कोमल पंखों पर उड़ा करती थी; उन रूमालों के बारे में, जिनके कोनों पर मैंने फूल काढ़े थे और जिन्हें मैं उन्हें भेंट करनेवाली थी; उस साड़ी के बारे में, जिसे पिताजी न जाने अपनी कितनी ज़रूरतों का ख़ून करके मेरे लिए लाये थे ताकि उनकी लाडली बेटी अपने ब्याह पर तो एक अच्छी साड़ी पहन ले...और सबके ऊपर मैं पूछना चाहती थी अपने सब से अधिक प्यारे नेता से कि अब तो तुम्हें ताज्जुब नहीं हो रहा ?...अब तो तुम ख़ुश हो कि तुम्हारे प्यारे लोग मक्खियों की तरह भूखों मरना नहीं जानते...अब सच्चे, बहादुर, आज़ाद इन्सानों की तरह...

ओह माँ, मेरा दिल डूबने लगा !...माँ, माँ ! अपने चरणों की धूलि मुझे दो !...जल्दी करो, माँ ! ...और माँ, तुम ज़िन्दा रहना तो मेरे आख़िरी सवाल का जवाब हमारे प्यारे नेता से ज़रूर माँगना !... यह सवाल ही मेरी वसीयत है। इस सवाल का जवाब पाना मुझ मरने वाली की आख़िरी ख्वाहिश है...कदाचित क़ानून मेरी आख़िरी ख्वाहिश...

•

ऐसी आज़ादी रोज-रोज हो

हफ़्तों से सरकारी मोटर शहर की सड़कों पर दौड़ रही है।

यहाँ नगर-कांग्रेस को प्रान्तीय कांग्रेस सरकार ने यह मोटर दी है, साथ ही पन्द्रह अगस्त तक इस मोटर पर जितना पेट्रोल खर्च होगा, उसके लिए कूपन दिये हैं, और उसे चलाने के लिए एक ड्राइवर भी दिया है। मोटर रंग बिरंगे काग़ज़ के फूल-पत्तों, झंडियों और तिरंगे झंडों से ख़ूब सजायी गयी है। वह सड़कों पर सुबह से शाम तक दौड़ती है, और उसके अन्दर अगली सीट पर ड्राइवर की बग़ल में बैठा हुआ कांग्रेस का कोई स्वयंसेवक हाथ में थामे माइक्रोफ़ोन को मुँह के क़रीब किये, ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहता है—पन्द्रह अगस्त को न भूलिए! पन्द्रह अगस्त को सदियों से ग़ुलामी की ज़ंजीर में जकड़ा हुआ हिन्दुस्तान आज़ाद हो जायगा! पन्द्रह अगस्त हमारी आज़ादी का दिन है! पन्द्रह अगस्त को ख़ूब शान से मनाइए! अपने घरों को सजाइए! रोशनी कीजिए, राष्ट्रीय झंडे फहराइए, ख़ूब ख़ुशियाँ मनाइए! पन्द्रह अगस्त को न भूलिए!...

पन्द्रह अगस्त को हिन्दुस्तान आज़ाद होने जा रहा है, और हिन्दुस्तान की आज़ाद होनेवाली जनता की यह हालत है, कि यहाँ की सरकार और कांग्रेस को उसे बताना पड़ता है कि वह पन्द्रह अगस्त को आज़ाद हो जायगी, पन्द्रह अगस्त उसकी आज़ादी का दिन होगा, पन्द्रह अगस्त को आज़ादी मिलने की उसे ख़ुशी मनानी चाहिए !

कहा जाता है, कि आज़ादी की लड़ाई जनता ने लड़ी है। लड़कर उसने सफलता प्राप्त की है, लड़कर उसने आज़ादी हासिल की है। फिर क्या बात है कि लड़नेवाली जनता को स्वयं यह ख़बर नहीं कि वह अपनी लड़ाई में सफल हुई है, उसने आज़ादी हासिल कर ली है—वह आज़ादी, जिसके लिए उसने सीनों पर गोलियाँ खायीं, फाँसी के तख्तों पर झूली, ख़ून बहाया, क़ुरबानियाँ दीं, जेलों की परेशानियाँ झेलीं, अपने को बरबाद कर दिया, सिर्फ़ इस उम्मीद में कि एक दिन उसका प्यारा देश आज़ाद हो जायगा, और तब 'अपनी ही ज़मीं होगी और अपना आसमाँ होगा,' और यह ग़ुलामी, यह ग़रीबी, यह अभाव, यह दुख, यह तकलीफ़, यह ज़िल्लत हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म हो जायगी ? वह दिन आ गया ! पन्द्रह अगस्त का दिन वह दिन है ! फिर भी जनता बेख़बर है। यह बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। पर समझ में आये या न आये, बात कुछ ऐसी ही है। कांग्रेस सरकार की मोटर हफ़्तों से शहर की सड़कों पर दौड़ रही है, और कांग्रेस का स्वयंसेवक प्रचार कर रहा है, कि पन्द्रह अगस्त का दिन हमारी आज़ादी का दिन है, और हमें ख़ुशियाँ मनानी चाहिए ! आज़ाद होनेवालों को बताया जा रहा है, कि वे आज़ाद हो जायँगे, उन्हें ख़ुशी मनानी चाहिए !

हिन्दुस्तान की सर्वाधिक लोकप्रिय संस्था कांग्रेस और उसकी सरकार का यह आदेश है, इसलिए ख़ुशी तो मनायी ही जायगी। शहर को सजाने के लिए बड़े-बड़े लोगों ने मोटी-मोटी रक़में चन्दे में दी हैं।

ख़ूब तैयारियाँ हो रही हैं। सड़कों पर सुन्दर-सुन्दर फाटक खड़े किये जा रहे हैं। चौराहों पर रोशनी का आकर्षक प्रबन्ध हो रहा है। सड़कों के दोनों किनारों पर झंडियाँ लटकायी जा रही हैं, तोरण बाँधे जा रहे हैं। घंटाघर को सजाने में सैकड़ों रुपये ख़र्च किये जा रहे हैं। बाजेवालों को बयाना दे दिया गया है। आतिशबाज़ियों का भी इन्तज़ाम है। मिठाइयाँ भी बँटेंगी। ख़ास-ख़ास लोगों का प्रीति-भोज भी होगा। सरकारी इमारतों की सजावट सरकार के आदमी और अफ़सर करा रहे हैं। उसका सारा ख़र्च सरकार देगी। सरकार ने शहर की सजावट के लिए भी कुछ रुपये दिये हैं। जनता की सरकार है। जनता की आज़ादी की ख़ुशी के अवसर पर, उसकी ख़ुशी के लिए जनता का धन ख़र्च न करेगी, तो कब करेगी? शादी, त्यौहार, ख़ुशी के अवसर होते हैं, पर पन्द्रह अगस्त सब से ज़्यादा ख़ुशी का अवसर है, सबकी ख़ुशी का अवसर, जनता की ख़ुशी का अवसर है! उसे उसी शान से मनाया जायगा। उसके लिए सैकड़ों, हज़ारों, लाखों रुपये भी ख़र्च कर दिये जायँ, तो भी कुछ नहीं!

शहर के धनी-मानी, बड़े-बड़े लोगों के यहाँ भी अपने अलग-अलग कार्य-क्रम हैं। उनकी कोठियाँ तो सुन्दर ढंग से सजायी ही जायँगी। रोशनी तो दीवाली को भी मात कर देगी। साथ ही किसी ने ग़रीबों को भूने हुए चने बाँटने का इन्तज़ाम किया है, तो किसी ने शर्बत पिलाकर ख़ाली पेटवालों का कलेजा ठंडा करने का प्रबन्ध किया है; और किसी ने पाव-पाव-भर सत्तू हर भीखमंगे को देने की मुनादी करवायी है, तो किसी ने भुखमरों की ऐंठती हुई अँतड़ियों को बहलाने के लिए उन्हें भर पेट खाना देने की डुगडुगी पिटवायी है। एक तरह से होड़ लग है धनिकों में। उनकी ग़रीब-परवरी जोश मार रही है, उदारता सीम लाँघ जाने को उतावली बनी खड़ी है! हो भी क्यों न? पन्द्रह अगस्त आज़ादी का दिन है। उनकी युग-युग से चली आयी दानशीलता ऐसे

अवसर भी प्रदर्शित न हुई, तो कब होगी ? अख़बारों में रोज़ ख़बरें छपती हैं, कि फलाँ ऐसे स्वतन्त्रता-दिवस मनायेगा, तो फलाँ ऐसे। कुछ नहीं, तो कोई अपने नौकरों को स्वतन्त्रता-बोनस ही बाँटने का कार्य-क्रम बना रहा है, और कोई अपने सेवकों को आज़ादी की तरक़्क़ी ही देने जा रहा है।

ग़रीब, भीखमंगे, भुखमरे, नंगे-नुचे लोगों को, यदि उनके पास ख़ुशी मनाने के सामान नहीं हैं, तो कोई फ़िक्र नहीं करनी चाहिए। उन्हीं की ख़ुशी के लिए तो धनी-मानी यह-सब कर रहे हैं।...

उस दिन जब रुनिया गोद में नवजात शिशु लिये, सड़क पर द्वार-द्वार खड़ी हो, अपने बच्चे के नाम पर लोगों की उदारता को उकसा-उकसाकर, दो दानों की भीख माँग रही थी, तो उसने भी यह-सब सुना। पन्द्रह अगस्त हमारी आज़ादी का दिन है, और उस दिन हमें ख़ूब ख़ुशी मनानी चाहिए, इसका मतलब तो उसकी समझ में कुछ न आया, पर भूने हुए चने, शर्बत, सत्तू और खाना वग़ैरा बँटने की बात सुनकर, उसकी गढ़ों में डूबती-उतराती आँखों में भी एक चमक उभर पड़ी, उसकी भूखी अँतड़ियाँ भी जैसे ख़ुशी के मारे कुलबुला उठीं। उसने गोद के चिथड़े में लिपटे हुए बच्चे के गाल को उँगली से छूकर, ख़ुशी में खिलकर कहा—सुना ! भूने चने, सर्बत, सत्तू, खाना, सब मिलेगा, मेरे लाल ! चल-चल, उसे भी बता दूँ !—और भीख माँगने की बात भूल-कर, वह अपने बासे की ओर ख़ुश-ख़ुश लौट पड़ी।

रास्ते में उसे अचानक ख़याल आया, मगर यह-सब होगा कब ? याद किया तो ख़याल आया कि कहनेवाले 'पनरह अगत,' 'पनरह अगत' कह रहे थे। भला यह पनरह अगत कब होगा ? चलते-चलते वह रुक गयी। सोचा कि किसी से पूछ क्यों न लें। सामने एक खद्दरपोश युवक आ रहा था। पास गयी, तो युवक की आँखों में नफ़रत का एक रंग उभर

आया। कड़ककर वह बोला—शर्म नहीं आती? हिन्दुस्तान आज़ाद होने जा रहा है, और तुम लोगों का भीख माँगना अब भी जारी है! आज़ाद देश में किसी को भीख माँगते अगर कोई विदेशी देख ले, तो क्या सोचेगा? तुम लोग क्या आज़ाद हिन्दुस्तान के पाक दामन में काले-काले, घिनौने धब्बे लगाने से बाज़ न आओगे?—कहकर, वह रोब दिखाता आगे बढ़ा, तो रुनिया, जिसने उस युवक की एक भी बात नहीं समझी थी, ठीक उसी तरह जैसे उस युवक ने पढ़-लिखकर भी जीवन की आधारभूत बातें नहीं समझी थीं, निर्विकार भाव से बोली—बाबू, मैं आपसे कुछ माँगती नहीं। मैं तो यह जानना चाहती थी, कि पनरह अगत कब होगा?

—ओह!—युवक की सारी नफ़रत, सारा रोष जैसे उसकी बात सुनकर उड़ गया। वह मुस्कराकर, एक गर्व का-सा भाव अपने मन में ला बोला—हिन्दुस्तान की आज़ादी का दिन, पन्द्रह अगस्त, कल ही तो है!—कहकर, वह होंठों में बुदबुदाता आगे बढ़ गया—पन्द्रह अगस्त, हमारी आज़ादी का दिन, कब होगा, यह भिखारी भी जानना चाहते हैं! क्यों न हो, आज़ादी की ख़ुशी सब को होती है! क्या अमीर, क्या ग़रीब; क्या धनी, क्या भिखारी!

पनरह अगत कल ही है! रात गयी और कल आया। सिर्फ़ रात-भर की देर है, चन्द घंटों की। फिर तो कल भूने हुए चने, सर्बत, सत्तू, खाना, सब मिलेगा, सब! और रुनिया के क़दम जैसे हवा में उठ रहे हों। उसकी चाल तेज़, और तेज़ होने लगी। पतली-पतली, सूखी-सूखी टाँगों में इतनी तेज़ी, इतनी शक्ति! आश्चर्य! पर ख़ुशी की तेज़ी, ख़ुशी की ताक़त की भी क्या कोई सीमा होती है? पन्द्रह अगस्त, आज़ादी का दिन, ख़ुशी का दिन!

रुनिया, झुनझुन और बच्चा! क़ानून, धर्म और समाज की रू से

उनका आपस में कोई सही सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई सम्बन्ध है, तो वह प्राकृतिक सम्बन्ध है, वही, जो एक मर्द, एक औरत और बच्चे में होता है। अपनी-अपनी जिन्दगी की राह पर भटकते-भटकते रुनिया और झुनझुन एक दिन एक दुराहे पर मिल गये। मर्द ने औरत को, औरत ने मर्द को देखा, और फिर उन दोनों ने देखा, कि वे एक-दूसरे को पाकर अपनी-अपनी ज़िन्दगी की एक बहुत बड़ी कमी पूरी कर लेंगे। अकेले थे, तो जहाँ रात हुई, वहीं काट लेते थे। अब दो हुए, तो ज़रूरत पड़ी एक ऐसी जगह की, जहाँ दिन-भर अलग-अलग भीख माँगने के बाद रात में वे साथ रह सकें। एक बरगद के पेड़ के नीचे वे ठहर गये। वह ज़मीन का टुकड़ा शायद किसी का नहीं था, इसी लिए उनका हो गया।

एक दिन झुनझुन को मालूम हुआ कि रुनिया के पेट के अन्धकार से कोई जीव बाहर की रोशनी में आने को तड़प रहा है, तो उसने जल्दी से ही कहीं से बाँस, फूस, टीन लाकर एक छोटी-सी झोपड़ी खड़ी कर ली। दूसरे दिन वे तीन हो गये।

कमज़ोरी के कारण कई दिन रुनिया भीख माँगने न जा सकी। झुनझुन ही भीख माँगता। ज़माने में आग लगी है। उसे ज़्यादा न मिलता। फिर भी जो उसे मिलता, वह रुनिया को खिला देता। ऐसे मौक़े पर खायेगी नहीं, तो टूटी देह जुटेगी कैसे? ख़ुद पानी पीकर सो रहता।

रुनिया जब बाहर जाने लायक़ हुई, तो झुनझुन भूख की बीमारी से लाचार हो गया। अब रुनिया अकेली ही भीख माँगने जाती है।

रुनिया ने जब झुनझुन को बताया कि कल शहर में भूने हुए चने, सर्बत, सत्तू और खाना बँटेगा, तो वह निर्बल होते हुए भी उठ बैठा, और सूखे होंठों पर सूखी जीभ फेरकर बोला—अब मैं अच्छा हो जाऊँगा, रुनिया!

ख़ुशी और ग़मी, दोनों की रात क़रीब-क़रीब एक ही तरह कटती है। रुनिया और झुनझुन ने भी पूरी रात आँखों-ही-आँखों में काट ली। हाँ, जहाँ ग़म की रात चुप-चुप कटती है, वहाँ रुनिया और झुनझुन में उस रात कुछ मीठी-मीठी, प्यारी-प्यारी बातें भी हुईं।

कल झुनझुन चलने-फिरने से क़तई मजबूर था। पर आज वह रुनिया के साथ चल रहा है। उसके पैरों में ताक़त कहाँ से आ गयी? इसका भी वही जवाब है। ख़ुशी की ताक़त, ख़ुशी की तेज़ी की भी क्या कोई सीमा होती है? आज पन्द्रह अगस्त है, आज़ादी का दिन, ख़ुशी का दिन!

कुत्ते सूँघकर जगह का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। भिखारी भी शायद कुछ ऐसा ही करके समझ जाते हैं कि कहाँ उन्हें क्या मिलनेवाला है। रुनिया और झुनझुन राह चलते-चलते कब अनगिनत भिखारियों और भिखारिनों के झुण्ड बन गये, उन्हें नहीं मालूम।

उनका जी इस वक़्त भूने हुए, सोंधे-सोंधे चने में लगा हुआ था, इसलिए शहर की सड़कों, घरों की सजावटों की ओर उनका ध्यान आकर्षित न हुआ।

पहुँचे, तो चने बँट रहे थे। उनके चिथड़ों में भी मुट्ठी-मुट्ठी-भर चने आ पड़े। ख़ुशी में वे फाँकते हुए वहाँ के लिए अपनी भीड़ के साथ ही चल पड़े, जहाँ शर्बत बँटनेवाला था। वहाँ जाकर उन्होंने उँजली से भर-भर पेट शरबत पिया। फिर जहाँ सत्तू बटनेवाला था, वहाँ के लिए रवाना हो गये।

वह जगह यहाँ से काफ़ी दूर है। चलते-चलते दोपहर हो जायगी। तब तक चने और शर्बत का तो अँतड़ियों में नामोनिशान भी न रह जायगा।

वहाँ सत्तू और नमक मिल गया। पानी का वहाँ कोई इन्तज़ाम न

था, इसलिए उन्हें कुछ असुविधा ज़रूर हुई। सड़क पर नल के पास झुण्ड-के-झुण्ड भिखारी बैठ गये, और कपड़ों में सत्तू सान-सानकर, ख़ुश-ख़ुश खाने लगे। आने-जानेवाले बाबू लोग खड़े हो-हो उनका तमाशा, उनकी ख़ुशी का तमाशा, देख रहे थे। खानेवाले भी ख़ुश थे, देखनेवाले भी। सब ख़ुश थे, क्योंकि आज पन्द्रह अगस्त है, आज़ादी का दिन, ख़ुशी का दिन!

खाना रात को बँटेगा। और वह जगह, जहाँ खाना बँटेगा, यहाँ से दूर भी नहीं। इसलिए दुपहरी कहीं छाया में आराम से काट लेनी चाहिए।

चने, शर्बत, सत्तू, पेट अच्छी तरह भर गया था, फिर रात को भी भर-पेट खाना मिलेगा। रुनिया और झुनझुन एक पेड़ के साये में बैठे, तो लेटे बिना न रह सके और लेटते ही जैसे आराम और निश्चिन्तता का एक नशा-सा उनपर तारी हो गया। उनकी आँखें आप-ही-आप झपक गयीं। रुनिया की छाती पर लेटा बच्चा टटोल-टटोलकर दूध पी रह था। आज दूध की कमी नहीं थी। रुनिया ने भी और दिनों की तरह, ठोंक-पीटकर उसे सुला देने की ज़रूरत नहीं समझी।

आप शायद सोचते होंगे कि ख़ाली पेट उन्होंने यह-सब खाया है, तो वे ज़रूर बीमार पड़ जायँगे। मगर नहीं। बीमार को अच्छा होने के लिए दवा लेने की ज़रूरत पड़ती है। भूख की बीमारी की दवा पेट भर देना है। क्या खाद्य है, और क्या अखाद्य, यह भूख का बीमार क्या जाने? खाद्य या अखाद्य कुछ भी पेट भरने के लिए उन्हें मिलता रहे, तो वे कभी बीमार न पड़ें। उनको तो बस एक ही बीमारी है, वही भूख की। इसके अलावा भी कोई बीमारी होती है, इसका तो उन्हें कोई ज्ञान ही नहीं। वे मरते हैं, तो इसी भूख की बीमारी से; और जब तक जीते हैं, इसी खाद्य या अखाद्य के बल पर। कोई डाक्टर इस बात से सहमत

न होगा, यह मालूम है। मगर किसी डाक्टर को ऐसे किसी बीमार की परीक्षा करने का जीवन में जब कभी अवसर ही नहीं मिला, तो उसके बारे में उसकी राय ही क्या क़ीमत रखती है? डाक्टर साधारण आदमियों के शरीर-विज्ञान का ज्ञान रखता है। पर ये तो दुनिया के असाधारण लोग हैं। इनकी सभी बातें असाधारण होती हैं।

काफ़ी देर के बाद उनकी नींद खुली। शाम का धुँधलका गाढ़ा हो चुका था। वक़्त का उन्हें कोई अन्दाज़ न हुआ। वे जल्दी से उठकर चल पड़े।

सड़क पर आये, तो रोशनी में उनकी आँखें चौंधियाँ गयीं। चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा था। दीवाली की रोशनी उन्होंने बहुत देखी थी, पर ऐसी रोशनी तो कभी नहीं देखी। ख़ुशी में बावले हुए लोगों की भीड़ से देह छिली जा रही थी। कहीं-कहीं आतिशबाज़ियाँ भी छूट रही थीं। कहीं बाजे-गाजे का शोर बरपा था। पर उन्हें यह-सब देखने की कहाँ फ़ुरसत थी!

किसी तरह बच-बचाकर वे वहाँ पहुँच गये। उनके भाई-बन्धुओं की पगत पहले ही से लगी थी। वे भी बैठ गये।

वहाँ इतना ठूँस-ठूँसकर उन्होंने खाया कि जब उठे, तो पैर ही नहीं उठ रहे थे। बड़ी मुश्किल से पैर घसीटते हुए, पेट पर बार-बार हाथ फेरते और डकार लेते वे धीरे-धीरे खिसकते चलने लगे।

थोड़ी दूर चलने के बाद झुनझुन ने रुनिया से कहा—रुनिया, मैंने तो इतना खा लिया है कि चला ही नहीं जाता। कहीं से अगर एक बीड़ी मिल जाती!

रुनिया ने ठिठककर, इधर-उधर देखा, फिर एक ओर इशारा कर कहा—देख, वह बाबू खड़ा-खड़ा पी रहा है। जाकर माँग न ले एक।

—तू ही माँग ला, रुनिया!—गिड़गिड़ाकर, आलस्य दिखाता

झुनझुन बोला।

—अरे, मैं औरत हूँ न! मेरा बीड़ी माँगना अच्छा न लगेगा। जा, माँग ले। दे देगा। भला बाबू दीखता है।—रुनिया ने कहा।

भर-पेट खाये हुए झुनझुन ने तब अपने को ऐसा बनाने की कोशिश की, कि उसे कोई देखता, तो सोचता कि बेचारे को कई दिनों से कुछ खाने को नहीं मिला है। फिर सिमट-सिकुड़कर, डोलता-काँपता-सा वह बाबू के सामने जा खड़ा हुआ। बाबू अपनी कोठी के सामने खड़ा, कोठी की अपूर्व सजावट और दीप-मालाओं की अद्भुत छटा मन-ही-मन में एक अभूतपूर्व गर्व का अनुभव करते निहार रहा था, और बेफ़िक्री से सिग्रेट के कश ले-लेकर, धुआँ छोड़ता जा रहा था।

झुनझुन ने जैसे डरते-डरते, मरी आवाज में कहा—बाबू!

बाबू ने नज़र फेरी, तो झुनझुन ने झट अपने दाहिने हाथ की छोटी, दाहिनी और बिचली अँगुली को मोड़, तर्जनी को फैला, उसकी बग़ल में अँगूठा सटाकर, हाथ को सामने बढ़ा कहा—बाबू, एक बीड़ी! —उसके शब्द जैसे दयनीयता की सीमा पर रेंग रहे थे।

बाबू किंचित मुस्कराया। फिर जेब से चाँदी का सिग्रेट-केस निकालकर, उसमें से एक सिग्रेट निकाल, उसे देते कहा—बीड़ी नहीं, सिग्रेट लो, सिग्रेट! आज पन्द्रह अगस्त है, आज़ादी का दिन, ख़ुशी का दिन! लो पिओ, और ख़ुश होओ!

झुनझुन ने सिग्रेट ले, उसे माथे से लगाया। फिर असीस-भरे स्वर में बोला—भगवान् तुम्हें खुस रखे, बाबू! ऐसा पनरह अगत रोज-रोज आये! ऐसी आजादी रोज-रोज हो। ऐसी ही खुसी आप लोग रोज-रोज मनायें!

●

एक पाँव का जूता

जाने कैसी आवाज़ उनके कानों में पड़ी कि वह चिहुक उठीं। तीन दिन से रात में कई-कई बार ऐसा हो रहा था। जीवन में पहले ऐसा कभी हुआ हो, उन्हें याद नहीं। इसी कारण दो रातों वह अपने कानों पर विश्वास न कर सकीं, यों ही, कुछ नहीं कहकर उन्होंने अपने को बहला लिया और करवट बदलकर सो गयीं। किन्तु आज वह कुछ सावधान थीं, दो रातों के लगातार अनुभव ने उनके मन में अनजाने ही एक सन्देह पैदा कर दिया था। दिन में कई-कई बार उन्होंने बाबूजी को घूर-घूरकर देखा था। बाबूजी उन्हें बेहद उदास दिखायी पड़ते थे। उन्हें ऐसा भी लगा था कि अबकी लखनऊ से वापस आने के बाद बाबूजी की बोली बहुत कम सुनने को मिली थी। लेकिन ऐसा तो जीवन में अनेक बार हो चुका था। उनके मौन-व्रत से कौन परिचित नहीं? फिर भी आज उन्हें लगा कि ज़रूर कोई बात है! बाबूजी उदास यों ही नहीं होते, मौन-व्रत भी वह सब से कहकर ही धारण करते। लेकिन इधर तो बाबूजी ने उनसे भी कोई बात नहीं की थी।

उन्होंने पूछा था—क्या बात है ? ऐसे खोये-खोये क्यों दिखायी देते हैं ? तबीयत तो ठीक है ?

बाबूजी ने जाने कैसी नज़रों से उन्हें एक पल को देखा था और फिर आँखें झुकाकर घर से बाहर चले गये थे। उन्हें उस तरह जाते हुए देखकर मन में खटका होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने सोचा, शायद वह बाहर बैठक में जायेंगे। वह दरवाज़े तक आयी थीं। लेकिन बाबूजी तो दूसरी दिशा में उसी तरह सिर झुकाये जाने कहाँ चले जा रहे थे। बिना कोई ख़बर दिये तो वह कभी कहीं नहीं जाते। वह वहीं फ़र्श पर बैठ गयी थीं।

ज़रा दूर जाकर ही बाबूजी लौट आये थे। द्वार पर ठिठककर वह बोले थे—मन व्यग्र है। लेकिन तुम कोई चिन्ता न करो। जाकर भोजन करो। मैं थोड़ा आराम करूँगा।—और वह बैठक की ओर बढ़ गये थे।

बाबूजी के इस तरह के व्यवहार की वह अभ्यस्त थीं। बाबूजी ने उन्हें शुरू से ही सिखाया था कि उनकी व्यग्रता की स्थिति में उन्हें अकेले छोड़ देना चाहिए, उनके पीछे नहीं पड़ना चाहिए और उनके आदेश का, बिना किसी हील-हुज्जत के, पालन करना चाहिए। उन्हें इसी से शान्ति मिलती है।

वह अन्दर जाकर बाबूजी के आदेश का पालन करने लगीं। बाबूजी की तरह इनका भी जीवन यान्त्रिक होकर रह गया था। सन् ३१ में जो बाबूजी ने एक व्रत लिया था, जीवन-भर के लिए उसी के व्रती होकर रह गये। कभी किसी ने कोई अन्तर नहीं देखा...वही एक जोड़ा अपने काते सूत के खद्दर का कुर्ता, धोती, गंजी, गाँधी टोपी और झोला... वही चप्पल, वही अपने हाथ से कपड़े साफ़ करना, दिन-रात में एक बार भोजन करना, चौकी पर चटाई बिछाकर सोना, सदा तीसरे दर्जे में

सफ़र करना, सच बोलना और जनता की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना। पहले तो बाबूजी का यह सुराजी बाना जाने कैसा-कैसा उन्हें लगा था। यह किसी ऋषि की तपस्या से किसी भी माने में कम नहीं था। लेकिन बाबूजी की दृढ़ता भी कोई साधारण नहीं थी। कभी वह अपने पन से डिगे हों, ऐसा किसी ने नहीं देखा। वह बेचारी क्या करतीं? बब्बू को गोद में लिये वह मन-ही-मन रोतीं, लेकिन ऊपर से बाबूजी के आदेशों के पालन में कोई कमी दिखायी न दे, इसके प्रयत्न में लगी रहतीं। बब्बू के होने के बाद बाबूजी ने यह व्रत लिया, इसे वह अपना सौभाग्य समझतीं, वर्ना...और इसके आगे सोचकर वह काँप-काँप उठतीं। बाबूजी कभी ऐसे हठी हो जायेंगे, कौन सोचता था?

बाबूजी की तपस्या सफल होते बहुत देर न लगी। जनता के वह प्रिय हो गये। क़स्बे से जिले के और फिर प्रान्त के नेता हो गये। चारों ओर बाबूजी की धूम, सब के मुँह पर बाबूजी-बाबूजी! लेकिन बाबूजी का जीवन वही-का-वही। रंचमात्र का भी परिवर्तन नहीं, जैसे जो बाबूजी पहले थे, वही अब भी, कहीं कोई अन्तर आया ही नहीं। फिर जेल... पुलिस की लाठियाँ.. और सन् बयालीस...भगवान की कृपा से उन्हें सिर्फ़ दस साल की सज़ा हुई, वर्ना लोग तो कहते थे, फाँसी पर लटका दिये जायेंगे।...प्यूनिटिव टैक्स...खेती-बारी ज़ब्त।.. कैसे कटे थे बब्बू की माँ के वे दिन! भगवान दुश्मन को भी न दिखाये वैसे दिन! लोग उनके पास भी आते सहमते। घर में एक दाना नहीं। रात को कोई पड़ोसी सोता पड़ने पर छुपकर कुछ खाने को दे जाता, तो अधम काया की भूख मिटती वर्ना फाक़ा।...

आख़िर वे यातना और आतंक के दिन भी कट ही गये। स्थिति सुधरी तो खोज-ख़बर लेनेवाले भी आये।...फिर तीन बरस बीतते-न-बीतते बाबूजी छूटकर आ गये। उनका स्वागत देखकर जैसे सारा कष्ट

भूल गया। एक वह दिन और एक यह दिन ! बाबूजी घर में आये तो बब्बू को गोद में उठाकर चूमा और उसकी माँ के सिर पर हाथ रखकर पूछा—तुम्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा न !

तीन वर्ष तक रोते-रोते बब्बू की माँ के आँसू जैसे सूख गये थे। इस क्षण अचानक जाने कहाँ से फिर उबल पड़े।

बाबूजी जाने कैसे कंठ से बोले—रोती हो ? मैं तो नहीं रोया।

बब्बू की माँ आँचल से आँसू पोंछती हुई बोलीं—आप आ गये, ये तो ख़ुशी के आँसू थे।

बाहर भीड़ 'बाबूजी ज़िन्दाबाद' के नारे लगा रही थी।।

बाबूजी अचानक गंभीर होकर बोले—मैं आ गया, तुम ख़ुश हो। लेकिन मेरी ख़ुशी तो ग़ुलामी ने लूट ली है। जब तक हमारा देश आज़ाद नहीं हो जाता, हमारी ख़ुशी वापस नहीं आने की। आज़ादी बहुत मुश्किल चीज़ है, इसके लिए...—और वह बब्बू को गोद से उतारकर बाहर चले गये।

बब्बू की माँ की समझ में कुछ न आया था। उनकी ख़ुशी बहुत ही छोटी थी, वही उनका जीवन था। उन्होंने बाबूजी को कभी किसी शिकायत का मौक़ा नहीं दिया।...लेकिन जब बाबूजी की ख़ुशी के दिन आये तो अचानक ही बब्बू की माँ को लगा कि अब उनकी भी ख़ुशी बहुत बड़ी हो गयी है। कई बार उनका मुँह खुला कि बाबूजी से कुछ कहें। लेकिन कुछ कहने की उनकी कभी हिम्मत नहीं पड़ी। जाने वह ख़ुशी बाबूजी के चेहरे पर कब आयी और कब चली गयी, जैसे एक फुलझड़ी जली हो, और बुझ गयी हो। और बब्बू की माँ मुँह ताकती रह गयी हों।

बब्बू ने किसी तरह हाई स्कूल पास किया और अपनी योग्यता से या भाग्य से रेलवे में क्लर्क हो गया। लोगों ने बब्बू की माँ से कहा—

बाबूजी का इकलौता लड़का और.....

लेकिन बब्बू की माँ ने बाबूजी से फिर भी कोई शिकायत न की।

लोगों ने कहा—बाबूजी के सभी-के-सभी साथी जाने क्या-से-क्या हो गये। लेकिन बाबूजी एम० एल० ए० होकर भी...

लेकिन बब्बू की माँ ने बाबूजी से फिर भी कोई शिकायत न की।

और बाबूजी के जीवन में जैसे कोई परिवर्तन आने ही वाला न हो। वही सब-कुछ, बल्कि और भी सख्ती के साथ। कभी-कभी वह आप ही बब्बू की माँ के पास आ बैठते और जैसे आत्म-स्वीकृति कर रहे हो, बोल उठते—बब्बू की माँ! मैं कितना ग़लत सोचता था! आज़ादी अपने में कोई ख़ुशी की चीज़ नहीं। ख़ुशी तो देश की ख़ुशहाली में है। हाय, हम कितने ग़रीब हैं, कितने दुखी हैं! जिस दिन यह ग़रीबी दूर होगी, दरअसल वही ख़ुशी का दिन होगा!...

और बब्बू की माँ जैसे उनकी यह बात भी नहीं समझतीं और उनका मुँह तकती रहतीं। उनकी ख़ुशहाली बहुत छोटी थी और वह सोचती थीं कि बाबूजी उसे बड़ी आसानी से हासिल कर सकते हैं, लेकिन वह कुछ भी न कहतीं।

लोग कहते—बाबूजी सचमुच महात्मा हैं!

बब्बू की माँ सुनतीं और गुनतीं कि महात्मा का अर्थ क्या होता है, लेकिन कहतीं कुछ नहीं।

लोग कहते—न रहने पर तो सभी फ़क़ीर बनते हैं, रहने पर जो फ़क़ीर बने वही सच्चा फ़क़ीर!

बब्बू की माँ सुनतीं और गुनतीं कि फ़क़ीर किसे कहते हैं, लेकिन कहतीं कुछ नहीं।

उनकी बानी तो बाबूजी थे, उन्हें ख़ुद कहने की क्या ज़रूरत?

एक बार पहले भी इसी तरह लखनऊ से लौटकर उन्होंने अपनी

व्यग्रता प्रकट की थी। लेकिन उस बार तो ज़रा ही देर बाद बब्बू की माँ के पास आकर हँसते हुए कह गये थे—वे सब मुझे पाखंडी कहते हैं, बब्बू की माँ। कहते हैं, जब फ़र्स्ट क्लास का टिकट मिलता है तो थर्ड क्लास में सफ़र करने का क्या मतलब? कुछ समझती हो?

बब्बू की माँ क्या समझें? जीवन में उन्होंने सफ़र ही कब किया कि उन्हें फ़र्स्ट और थर्ड की तमीज़ हो?

लेकिन उस बार रात में कभी कोई ऐसी आवाज़ सुनायी नहीं दी थी। अबकी तो तीन-तीन दिन बीत गये। दिन-भर बाबूजी मौन व्यग्रता में पड़े रहते हैं। और रात में कई-कई बार जाने कैसी तो आवाज़ बब्बू की माँ के कानों में पड़ती है कि वह चिहुक-चिहुककर उठ बैठती हैं। लगता है, जैसे कोई बालक रोता हो, बापू-बापू की रट लगाता हो।

बब्बू की माँ आज रात अपने को बहला न सकीं। वह उठ बैठीं। आवाज़ वैसी ही आ रही थी। उन्होंने ज़रा ध्यान से आहट ली, तो लगा, आवाज़ बाहर से आ रही है। बाहर सहन में बाबूजी सो रहे थे। अन्दर आँगन की अपनी चारपाई से बब्बू की माँ उठ खड़ी हुईं। आँगन में मैली चाँदनी फैली हुई थी। दिन-भर की लू की मारी हवा इस वक़्त कुछ ठंडी-ठंडी-सी लग रही थी। रात के सन्नाटे में वह किसी बालक के रुदन-सी आवाज़ कितनी भयानक लग रही थी! बब्बू की माँ को ध्यान आया कि पहले तो यह आवाज़ ज़रा-ज़रा देर में चुप हो जाती थी, लेकिन आज तो यह जाने कब से आ रही है।...दूर के अपने स्टेशन पर जाने बब्बू कैसे है? क्यों ऐसा लगता है कि जैसे बब्बू ही रो रहा हो? जैसे शिकायत कर रहा हो कि बाबूजी ने उसकी पढ़ाई भी पूरी नहीं करायी...यह उम्र हो गयी, अभी शादी नहीं करायी...लेकिन नहीं, नहीं, वह शिकायत करनेवाला, मुँह खोलकर कुछ कहनेवाला बेटा नहीं है! जैसी माँ वैसा ही बेटा।...

वह आवाज़ जैसे और भी करुण, और भी भयानक हो उठी। अकेले घर में बब्बू की माँ को डर लगने लगा। वह चारपाई से उठ खड़ी हुई। बाहर के दरवाज़े के पास की खिड़की से उन्होंने बाहर झाँका। आवाज़ बाहर से ही आ रही थी। बाबूजी चौकी पर दायीं करवट पड़े थे। कुहनी में उसका मुँह छुपा हुआ था, साफ़ दिखायी न दे रहा था। वह आवाज़ उसी तरह वहीं आ रही थी। फिर बाबूजी को देखते हुए बब्बू की माँ को सहसा ही ऐसा लगा कि जैसे अब वह आवाज़ उनके कानों से टकराकर दूर चली गयी है और उनको एक बहुत पुरानी बात याद आ गयी।...जब वह इस घर में आयी थीं तो बाबूजी अकेले ही थे। उनके माँ-बाप जाने कब के गुजर चुके थे। रात में चारों ओर जब सोता पड़ जाता तो वह इसी खिड़की पर आकर उन्हें धीरे-धीरे पुकारते, दरवाज़ा खोलो ..और एक बार वह भी इस खिड़की पर आयी थीं। यही जेठ के दिन थे। आंगन में सोयी थीं कि अचानक उनकी नींद उचट गयी। जाने मन में क्या उठा कि वह इस खिड़की पर आ गयीं। लेकिन उन्हें पुकारें कैसे? फिर आँगन में से कुछ कंकड़ियाँ चुन लायीं और एक-एक कर खिड़की से उनकी चारपाई पर फेंकने लगीं। वह उठे तो वह दरवाज़ा ज़ोर से खोलकर आँगन में चली गयी थीं। उन्होंने अन्दर आकर कहा—एक ककड़ी मेरी भौंह पर लगी है!

—अरे,—उन्होंने व्यस्त होकर कहा था—कहाँ? चोट तो नहीं लगी?

—नहीं नहीं, वह कंकड़ी थी कि पंखुड़ी?...

और वह बब्बू! हे भगवान, उस रात कहीं वह चुक गयी होतीं तो उन्हें बब्बू की माँ कौन कहता? और फिर उसके बाद तो...

उनके मन में आया, एक कंकड़ी फेकूँ क्या?...कि अचानक

बाबूजी चौकी पर उठ बैठे।

और बब्बू की माँ के मन में आया, दरवाज़ा खोल दूँ क्या ? और सच ही बढ़कर उन्होंने दरवाज़ा खोला ही था कि उनकी आवाज़ आयी—बब्बू की माँ !—उस आवाज़ में कैसी तो एक तड़प थी कि बब्बू की माँ का सपना टूट गया। सिर का आँचल ठीक करती हुई जैसे एक अपराधी की तरह वह बोलीं—कहिए !

—इस बेला तुमने दरवाज़ा क्यों खोला ?

—मुझे ऐसा लगा कि बाहर कोई बालक रो रहा है।

—तुमने सुना था ?

—तीन रातों से सुन रही हूँ।

—ओह ! —तनिक रुककर बाबूजी ने कहा—यहाँ आओ।

वह सहमी-सहमी-सी उनके पास आ गयीं।

वह बोले—बैठो !

—आपकी चौकी पर ?

—हाँ, तुम से एक बात कहनी है।

—मुझसे ?

—हाँ,—बाबूजी खड़े-खड़े ही बोले--अपनी यह बात मैं और किसी से नहीं कह सकता।...जानती हो तीन रातों से मैं ही रो रहा हूँ...

—आप ?

—हाँ, मैं। तुम ने ठीक ही किसी बालक का रुदन सुना। इन्सान जब रोता है तो बालक ही बन जाता है।

—लेकिन क्यों ? आप तो मोह-माया...

—कितने दिनों बाद आज तुम ने मुझसे एक सवाल पूछा है...

—ओह, क्षमा कीजिए !

—नहीं-नहीं, बब्बू की माँ ! एक नहीं तुम हज़ार सवाल पूछो !

मेरा पतन हो गया है। जिस सिंहासन पर तुम लोगों ने मुझे बैठा रखा था, उससे मैं च्युत हो गया हूँ। मैं...

—यह-सब आप क्या कहते हैं ? मेरी समझ ..

—आज तक तुम ने समझकर मेरी कोई बात नहीं मानी। मेरी बात ही तुम लोगों के लिए वेद-वाक्य रही। लेकिन आज मैं चाहता हूँ कि पहले तुम मेरी बात समझो। तुम्हें मैं वह पूरी घटना ही सुनाता हूँ, जिसने मेरे जीवन के सभी आदर्शों, सिद्धान्तों और बड़ी-बड़ी त्याग-तपस्या की बातों को एक मामूली-सी स्थिति की चट्टान पर पटककर चूर-चूर कर दिया है। मैं तीन दिनों से रो रहा हूँ, लेकिन ऐसा लगता है कि सारी ज़िन्दगी जिस राह में चला हूँ, उसी पर मैं भटक गया हूँ। सुनो ! उस दिन गाड़ी में बेहद भीड़ थी। दोपहर को गाड़ी पहुँची, तो ऐसी भीड़ डब्बे में घुसी कि मेरा दम फूलने लगा। ऐसा लग रहा था कि मैं बेहोश हो जाऊँगा। लोगों की साँसों से जैसे लपटें छूट रही थीं सोचा, उतरकर जान बचाऊँ, लेकिन उस भीड़ में से उतरना कोई मामूली काम न था। फिर भी मैं झोला लेकर उठ खड़ा हुआ। और किसी तरह एक पग बढ़ाया ही था कि गाड़ी ने सीटी दे दी। अब क्या करूँ, लोगों ने कहा, बैठ जाइए, गाड़ी चलेगी तो थोड़ी राहत मिलेगी। मेरे बैठते-बैठते गाड़ी चल पड़ी। तभी एक चमौंधा जूता मेरी गोद में आ गिरा। मैंने खिड़की की ओर नज़र घुमायी तो एक पोटली मेरी पीठ से बज उठी। देखा, एक बूढ़ा किसान मेरी खिड़की में पाँव डाले ऊपर चढ़ रहा है। जाने मुझे क्या हुआ कि मेरा दिमाग़ ही ख़राब हो गया। गोद का जूता उठाकर मैंने बाहर फेंक दिया और मारे ग़ुस्से के काँपने लगा। किसान ने अन्दर आकर माथे का पसीना मेरे सिर पर चुलाते हुए कहा, छिमा कीजिएगा, बाबूजी, हमें दो ही टीसन जाना है। उसके मुँह से 'बाबूजी' सुनकर मेरे ऊपर घड़ों पानी पड़ गया। वह शायद मुझे

पहचानता था। मैंने दूसरी ओर मुँह फेर लिया। वह अपनी पोटली और जूते सँभालने लगा। फिर बोला, हमारा एक जूता किधर जा पड़ा? मैं जानता था कि उसका एक जूता कहाँ है, लेकिन मेरे मुँह से कोई बात नहीं निकली। अब मैं सोच रहा था कि कहीं इसे मालूम हो जाय कि मैंने ही इसका एक जूता...वह छटपटाकर आस-पास के लोगों से पूछ रहा था और लोग उसे डाँट रहे थे। आख़िर हार-पछताकर उसने पूछना बन्द कर दिया। फिर भी रह-रहकर बोल उठता था, जाने हमारा एक जूता कहाँ चला गया? भुभुर में मेरा पाँव जल जायगा।...आख़िर बेल्थरा रोड आया और जब वह एक जूता और पोटली लटकाये नीचे उतर गया, तो मेरी जान में जान आयी। लेकिन, बब्बू की माँ, फिर जो दृश्य मैंने देखा है, वह...वह...—बाबूजी का गला भर्रा गया—वह मैं कभी भी न भूल सकूँगा! वह किसान एक पाँव में जूता डाले और दूसरे नंगे पाँव से पिघलते कोलतार पर चला जा रहा था। वह उसका नंगा पाँव पिघलते कोलतार पर ऐसे पड़ रहा था, जैसे अंगार पर...और फिर मुझे ऐसा लगा कि वह नंगा पाँव अंगार पर नहीं मेरी छाती पर चल रहा है...और मैं कुचला जा रहा हूँ...कुचला जा रहा हूँ...बब्बू की माँ, मैं क्या करूँ? क्या करूँ?—और बाबूजी अपनी छाती मसलते हुए चौकी पर बैठ गये।

बब्बू की माँ को लगा कि जैसे वही आवाज़ फिर उनके कानों से आकर टकराने लगी है। वह उठ खड़ी हुईं और दरवाज़े की तरफ़ बढ़ती हुई बोलीं—मैं क्या जानूँ, बाबूजी! मेरी समझ में तो आज तक आपकी कोई बात नहीं आयी, फिर यह बात तो और भी मुश्किल मालूम होती है। मैं आपको क्या बता सकती हूँ?

अन्दर आँगन में आ वह अपनी चारपाई पर बैठीं, तो उन्हें लगा कि वह आवाज़ और भी तेज़ होती जा रही है।

●

नया खाता

एक हफ़्ता पहले से ही महाजन का कारिन्दा असामियों के यहाँ घूम रहा है। दीवाली के दिन ठीक चार घड़ी रात गये मालिक के यहाँ नया खाता खुलेगा। रामचरन के नाम साइत निकली है। पहली रक़म उसी के नाम जमा होगी, फिर और असामियों की। सब अभी से तैयारी कर रखें। पिछला साल बहुत मन्दा गुज़रा है। मालिक का ख़याल है कि पिछली दीवाली पर नये खाते का श्रीगणेश अच्छा नहीं हुआ था। इसी कारण उन्हें साल-भर मन्दी भुगतनी पड़ी। इस साल वैसा न होना चाहिए। बड़े मालिक अबकी ख़ुद ही नयी बही लेकर बैठेंगे। नये खाते में जो जैसा जमा करेगा साल में उसके साथ वैसा ही व्यवहार होगा। इसलिए असामियों को सोच-समझकर काम करना चाहिए।

यों कारिन्दे का कहना सब से है लेकिन रामचरनपर ख़ास ज़ोर है। श्रीगणेश उसी के नाम से होगा। उसे तो ख़ास तौर से ख़याल रखना चाहिए, क्योंकि साल-भर की नेकनामी या बदनामी उसी के सिर बीतेगी। पिछले साल गनेस के नाम साइत कुछ अच्छी नहीं रही। उसने

श्रीगणेश भी इतनी कम रक़म से किया था कि मालिक का साल ही खराब हो गया। अबकी वैसा न होना चाहिए।

रामचरन ने जब से यह ख़बर सुनी है, परेशान है। परेशान होने की बात ही है। उस छोटे-से गाँव का हर आदमी यह जानता है कि किसी के नाम साइत निकलने का क्या मतलब है। सालों से यह बात देखने में आ रही है कि जिस आदमी के नाम यह साइत निकली है, वह हमेशा के लिए तबाह हो गया है। फिर उसके तन पर रोआँ उगने की नौबत नहीं आती। जिस तरह कालाजार देह को तोड़ देता है, उसी तरह यह साइत भी गिरस्ती की जड़ को झकझोरकर उखाड़ देती है। दूर क्यों जायँ, पिछले साल साइत करनेवाले गनेस को ही देखिए। बेचारा मज़े का आदमी था। एक बैल की खेती थी। घर में बेकत भी बस तीन ही। ख़ूब मेहनत करते, ठाले वक़्त में मर-मज़दूरी भी कर लेते और किसी तरह जुटा-मुटा कर साग-सत्तू से साल काट लेते। बेचारे के नाम पिछले साल साइत निकल आयी। पास तो जोड़ा कुछ था नहीं, कि महाजन के यहाँ जमा कर साइत कर देता। बेचारा जाकर महाजन के सामने गिड़गिड़ाया तो महाजन ने ही उपाय निकाल दिया। कहा—बावग हो ही गया। बैल क्यों नहीं निकाल देता? ठाले में बैठकर घर का भूसा ही तो खायगा। फिर दाने-मिसने का बखत आये तो मुझसे लेकर खरीद लेना। महाजन को बहुत अफ़सोस था कि उसके जैसे मरियल आदमी के नाम साइत निकल आयी। लेकिन किया ही क्या जा सकता था?

और बेचारा गनेस भी क्या करता? महाजन को नाराज़ कर गाँव में रहना क्या वैसा ही नहीं जैसा मगर से बैर कर नदी में रहना?

बावग निकल जाने पर बैलों का दाम गिर जाता है। तीन महीने ठाले में बैठाकर खिलाना कौन चाहे? सो बेचनेवाले बहुत और ख़रीदनेवाला कोई नहीं। वह भी गरज-बावला। साइत न निकली होती तो

मुनासिब दाम पर बिकता। अब गरज पड़ी तो हफ्ते के अन्दर औने-पौने पर बैल निकालना पड़ा। साइत की मुहूरत तो टाली नहीं जा सकती!

जब फागुनी हवा बही, दाने-मिसने, ऊख और भदई के लिए खेत तैयार करने का बखत आया, तो बेबैलवाले किसान बैल ख़रीदने निकले। अब ख़रीदनेवाले बहुत और बेचनेवाला कोई नहीं। दाम आप ही चढ़ जाता है। मुहमाँगा दाम दो, नहीं तो देखो अपना रास्ता! किसे गरज है बेचने की? बेचकर फिर दौड़-धूप करने, एक का दो देकर ख़रीदने की ज़हमत कोई मोल क्यों ले? डांगरों पर भी लहती लग गयी।

गनेस ने अपना बैल बेचा था पैंसठ में। एकावन से साइत की थी। चौदह खा गया था। घर पैसा रहे, तो निकलने के पचास रास्ते। अब बेचारा महाजन से एकावन ले बैल खरीदने निकला। लेकिन मिले कहाँ इतने में? सो, दस-बीस कोस का चक्कर लगा चार-पाँच दिन में लौट आया। काम का बैल सौ रुपये से कहीं कम का नहीं। रोज़-रोज़ बाज़ार चढ़ता जा रहा है। देर हुई तो सौ का सवा सौ भी देना पड़ सकता है।

महाजन से अरज की, तो सौ पैंच खाकर उसने कहा—रोजगार बिलकुल मन्दा जा रहा है। ऐसा जमाना तो कभी देखा ही नहीं। बैठे-ठाले साहु की पूँजी खाये जा रहे हैं।...खैर, अब जो तुम्हारी बाँह पकड़ी है तो गला छुड़ाये कैसे बने? ले जाव, भाई, ले जाव!

काग़ज़ पर अंगूठे का निशान देते बेचारा गनेस काँप रहा था। लेकिन अब चारा ही क्या था?

नया बैल लाकर खूँटे पर बाँधते बेचारे गनेस को कोई ख़ुशी नहीं हुई। वह काग़ज़ जैसे पहाड़ बनकर उसकी सारी देह को दबाये जा रहा था। इस बीच कितनी बार उसने मनसूबा बाँधा, लेकिन उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि कैसे उरिन होगा इस रिन से?

साल-भर कलेजा फाड़कर उसने अपने खेतों पर मेहनत की। तेरह

बरस के लड़के और उसकी औरत ने भी मजूरी और बनिहारी से कोई उठा न रखा। फिर भी कुछ बचा न पाये। हर महीने सूद की भरपाई करना भी मुश्किल। बाक़ी सूद भी असल में जुड़ता गया और साल-तमामी का जब हिसाब उसे सुनाया गया तो पचास का सौ हो गया था। कहाँ से देता बेचारा? महाजन ने चाप चढ़ाया, तो बाप-दादे से चला आया अठारह कट्ठे का खेत रेहन चढ़ाना पड़ा।

हँसता-मुस्कराता गनेस का चेहरा हमेशा के लिए उदास हो गया। एक ऐसा बोझ उसके सिर चढ़ गया कि ज़िन्दगी-भर ढोता रहेगा और मरने के बाद अपने लड़के के सिर डाल जायगा। उससे अब निस्तार कहाँ?

अबकी रामचरन की बारी थी। रामचरन के नाम साइत आप ही निकल आयी हो, ऐसी बात नहीं। साइत निकालने के लिए पण्डितजी ने पतरा खोला, तो उन्होंने हमेशा की तरह महाजन से पूछा—किस अक्षर पर चाहते हो, जजमान?

महाजन ने दोनों हाथ रगड़ते हुए कहा—हमारे चाहने से क्या होगा, पण्डितजी? जो भाग्य में भगवान ने लिखा होगा सो ही तो होगा!

—हाँ, जजमान, सो तो है ही! वह गिनती पर आप ही निकल आयगा। फिर भी पूछना इसलिए हुआ कि मानचाहा कहीं निकल आये तो अपना मुँह भी तो खोलने को जी होता है। यों जो निकलेगा सो ही बताऊँगा।—कहकर वह दाहिने हाथ के अँगूठे से अँगुलियों के पोर गिनने लगे।

महाजन ने कुछ सोचकर कहा—भगवान् करें, इस साल 'र' पर निकले साइत!—और होंठ पर जीभ फेरने लगा, जैसे शिकार देख भेड़िया फेरता है।

—वाह जजमान ! तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर !—पण्डितजी उछल ही तो पड़े—क्या सरस्वती आ बैठीं आपकी जीभ पर ! 'र' में ही निकल रहा है ! रुकिए, जरा फिर एक बार मिला लूँ। कहीं गलती नहीं छूटनी चाहिए ! पक्का कर लेना अच्छा रहता है !—और वह फिर एक बार पोर गिनने लगे।

महाजन अब हलवा पकाने लगा। भदई के लिए रामचरन पाँच मन साठी का बीज सवाई पर ले गया था। फ़सल कटी थी, तो तक़ाज़े पर आकर उसने कहा था—महाजन, लड़की सयानी हुई। इस लगन में पार लगाना है। फसल अबकी अच्छी रही। कुछ पहले से जोड़ा भी है। सब मिला-जुलाकर अबकी पार लगा देना है। आप अबकी बीज का पावना छोड़ दें। अगले साल जरूर दे दूँगा। लड़की की बात है। आपको भी पुण्य होगा। कहना तो मैं यह भी चाहता था कि अगर कुछ घटे-बढ़े तो आप...बना रहूँगा, महाजन, तो जिन्दगी-भर जूता सीधा करूँगा !

महाजन कुछ देर चुप रहा। फिर जैसे कुछ सोचकर ही बोला—अच्छा-अच्छा। पार लगा लो, भाई। कन्या की बात ठहरी। मैं कुछ कहूँगा तो कोई मुझे भलमानस कहेगा ?

सो तभी से नज़र लगी थी महाजन की। 'कुछ पहले से भी जोड़ा है', रामचरन की वह बात इधर गूँजती रही थी उसके दिमाग़ में।

पण्डितजी ने पतरा बन्द करते हुए कहा—'र' ही है, जजमान ! मेरा दिमाग कभी खता नहीं करता। लेकिन हाँ, अबकी पूजा आपके ही नाम है, छोटे मलिक के नाम नहीं, इतना और भी सुन लो। अब लाओ तो दक्षिणा ! जजमान के ख़ुश होने पर ही तो पुरोहित का मुँह खुलता है !

—नये खाते का मुहूरत तो बताया ही नहीं, पण्डितजी !—हो-हो कर हँसते हुए महाजन बोला।

—चार घड़ी रात गये, बताया नहीं? जरूर बताया होगा, जजमान! आपका ही सुरता कहीं और होगा।—पण्डितजी ने पतरा बस्ते में लपेटते हुए कहा—अच्छा, तो जरा छुट्टी करो, जजमान। तर-त्योहार का बखत ठहरा। कई जगह जाना है। पानी वानी भी अब कहीं और ही पीऊँगा। आप सोच-समझकर...

यह कैसी रीति चली आ रही है गाँव की, रामचरन आज तीन दिन से यही सोच रहा था। गाँव के पुरखों पर उसे आज बहुत ग़ुस्सा आ रहा था, जिन्होंने आनेवाली सभी सन्तानों के गले में यह फँसरी लगा दी थी। बल्कि उसे तो इस बात पर भी ताव आ रहा था कि क्यों उन्होंने बसने दिया इन महाजनों को गाँव में? ज़बान-ज़बान से होती जो बात चली आयी थी, उससे रामचरन को भी यह मालूम था कि इस महाजन का कोई पुरखा काँधे पर धोती और हाथ में लोटा-डोर लटकाये गाँव में आया था और मामूली मर-मसाले की दुकान लगायी थी। छोटे गाँव में पहले कोई दुकान न थी। सौदा-सुलुफ पास के क़स्बे के बाज़ार से होता था। पता नहीं, महाजन के पास कौन-सा जादू था, जो वह दिन-दिन मालदार बनता गया। अब तो उसका घर पक्का हो गया है। क़स्बे में भी एक बड़ी दुकान जम गयी है। खेत भी काफ़ी ख़रीद लिये हैं। ज़िले पर भी आढ़त का काम शुरू कर दिया है। आस-पास के गाँवों का कोई किसान नहीं जो उसके क़र्ज़ के भार से दबा न हो।...और यह नया खाता! कितने घरों को यह निगल गया और पता नहीं किसी को छोड़ेगा भी! यह नये खाते का रिवाज गाँववालों ने क्यों चलाया?

रामचरन परेशान हो-होकर सोचता रहा। जमाने से चला आया रिवाज टूटे भी तो कैसे? फिर महाजन का भार उसपर भी तो है। बिफर-कर वह दूसरा रास्ता भी कैसे निकाल सकता है? जरूरत पड़ने पर वही तो सहारा है गाँव का।

उदास रामचरन ने सोचा, क्यों न चलकर महाजन की ही अरजी-बिनती करे कि अबकी साल नया खाता किसी दूसरे से खुलवा लें। बेटी के बियाह का सवाल है। शायद मान जाय।

जाकर अरदास की तो महाजन बोला—भाई, यह तो साइत की बात है। कोई अपने हाथ की चीज थोड़े ही है। पतरा में तुम्हारा नाम ऊपर से लिखकर आया है। न मानो तो पण्डितजी से पूछ लेना!...और फिर तुम फिकिर काहे को कर रहे हो, मैं क्या मर गया हूँ? नया खाता खोल-कर तुम मुझे खुश करोगे तो क्या तुम्हारी जरूरत पर मैं मुँह चुराऊँगा? नहीं, भाई, नहीं! तुम कोई फिकिर न करो! बिटिया का बियाह होगा! जो भी जरूरत पड़े, मुझसे कहना। महाजन मुँह से बात निकालकर पीछे नहीं हटता, सारा गाँव जानता है। साइत का मामला है, आगा-पीछा करके खराब न करो। नहीं तो मेरा तो पूरा साल चौपट हो जायगा!

रामचरन क्या कहता? कहने को जगह ही कहाँ बच रही थी? वह लौटा तो लोगों से सुनी और खुद अपनी आँखों देखी बातें उसकी आँखों के सामने नाचती रहीं कि किस तरह नया खाता खोलनेवाला असामी हमेशा के लिए महाजन के जबड़े में फँस जाता है।

रामचरन उस रात उहा-पोह में पड़ा रहा। खाना भी उससे न खाया गया। औरत ने उदासी का कारण पूछा तो उससे कुछ बोला न गया। उसके मन में यही बात बार-बार उठ रही थी कि अगर बेटी सयानी न होती तो शायद अबकी वह यह रिवाज हमेशा के लिए तोड़ देता। बहुत करता, वह अपनी साठी ले लेता। लेकिन इस बखत तो वह वैसा नहीं कर सकता। जवान बेटी को महाजन से रार बेसह घर में रखना कैसे होगा?

रामचरन खटोले पर लेटा तो उसे ऐसा लग रहा था, जैसे उसके

हाथ-पाँव, छाती-कमर और गले को चौड़-चौड़कर रस्सी से बाँध दिया गया हो। हिलना-डुलना भी मुहाल। सिर जैसे गरम होकर जल रहा था। कलेजा जैसे भुभुर में मछली की तरह तड़प रहा था।

पता नहीं कब उसकी आँख लग गयी। लेकिन नींद में भी जैसे उसके प्राण को छुटकारा न था। वह एक बीहड़ सपने में फँसकर छटपटाये जा रहा था—

सपना चल रहा था—

दीवाली की रात है। महाजन की कोठी अनगिनत दीपों की रोशनी में जगर-मगर कर रही है। कोठी के अलावा और कहीं रोशनी नहीं दिखायी देती। गाँव-भर के दीवाली के दीप पहली ही घड़ी में जलकर बुझ गये हैं। ऐसा लगता है, जैसे सारे गाँव की दीवाली यह कोठी ही मना रही है। कोठी के सहन के चबूतरे पर एक ओर शहनाई बज रही है। दरवाज़े पर क़तार लगाये असामी मुट्ठियों में रुपये लिये बैठे हैं। सबसे आगे रामचरन है। उसकी अँजुरी में एक सौ एक कलेजे के टुकड़े हैं। उसकी सारी देह पीड़ा के मारे ऐंठी जा रही है। फटी-फटी, चिन्तातुर आँखों से वह अन्दर देख रहा है। दीवार पर आलमारी के ऊपर लक्ष्मीजी की मूरत है। आलमारी के एक तरफ़ सिन्दूर और तेल से 'शुभ' और दूसरी ओर 'लाभ' ताज़ा-ताज़ा लिखा है। फिर दोनों ओर एक-एक नौ-नौ खाने के वर्ग हैं। उन ख़ानों में गिनती के अंक लिखे हैं। उनको चाहे जिधर से जोड़ो, पन्द्रह। कभी कम नहीं। चाहे जैसे हिसाब करो, महाजन को कभी घाटा नहीं लगने का। आलमारी के दरवाज़े खुले हैं। अन्दर एक बड़ा-सा दीप जल रहा है, घी का। दरवाज़ों में तेल लगा है, चमक रहे हैं। आलमारी के सामने महाजन बैठा है, पीली धोती, पीला कुरता, पीली पगड़ी, माथे पर चन्दन, हल्दी और दही का टीका। उसके सामने पण्डितजी बैठे हैं। पूजा कर रहे हैं। सामने अक्षत,

चीनी, दही, दूब, हल्दी, पान और पाँच अशर्फ़ियाँ थाली में रखी हैं। अशर्फ़ियाँ चमक रही हैं। इधर एक बड़ी थाली में मोतीचूर के लड्डू रखे हैं। असामी का रुपया नये खाते में जमा कर महाजन उसे दो लड्डू उठाकर देगा। धूप का धुआँ उठ रहा है।

पूजा चल रही है। बाहर लड़कों और मंगतों की भीड़ लगी है। शोर हो रहा है, शहनाई बज रही है। लेकिन रामचरन के कान जैसे सुन्न हो गये हैं। कुछ सुनायी नहीं देता। रह-रहकर वह अपनी अँजुरी की ओर देख रहा है। फाँसी की घड़ी नज़दीक चली आ रही है।

तभी ज़ोर से शंख बज उठता है। रामचरन चिहुक उठता है। घड़ी आ गयी! रामचरन की पुकार होती है। वह उठकर लड़खड़ाते क़दमों से चलता है। पण्डितजी उसे सेठ के दाहिनी ओर हाथ पकड़कर बैठाते हैं। अँजुरी काँप रही है। शरीर काँप रहा है। प्राण काँप रहे हैं। घड़ी आ गयी! घड़ी आ गयी!

पण्डितजी उसके माथे पर भी टीका लगाते हैं। कालीमाई के सामने बलिदान के बकरे के माथे पर भी पण्डितजी ने इसी तरह टीका लगाया था, रामचरन को अचानक ही याद हो आता है। महाजन मुस्करा रहा है। सामने खाता खुला है। पन्ने के सिर पर हल्दी की स्वस्तिका बनी है और शरीर पर हल्दी के छींटे पड़े हैं। महाजन रामचरन की ओर देखकर मुस्कराये जा रहा है। उसकी आँखों की चमक रामचरन से सही नहीं जा रही है। उसकी नज़र धुँधली पड़ती जा रही है। पंडितजी उससे कहते हैं—भगवान का नाम लेकर नया खाता खोलो। कामना करो कि महाजन की तरक्की हो!—और अँजुरी पकड़कर महाजन की ओर बढ़ाते हैं कि अचानक रामचरन को ऐसा लगता है, जैसे सहसा सब दीये एक साथ बुझ जाते हैं। अन्धकार, अन्धकार!

रामचरन भागना चाहता है कि थाली से टकराकर गिर पड़ता है।

सँभलकर फिर उठना चाहता है तो पाता है कि उसके दोनों पैर जकड़कर बाँध दिये गये हैं। वह झुककर देखता है तो अन्धकार में दो छोटी-छोटी आँखें उसके पैरों का चक्कर लगाती दिखायी पड़ती हैं। शायद कोई मकड़ा है। वह हाथ से उसे मार देना चाहता है कि वह आँखें बहुत बड़ी-बड़ी होकर उसे घूरती दिखायी देती हैं और उसकी बड़ी-बड़ी टाँगों का स्पर्श ठेहुनों के पास महसूस होता है। यह तो कोई बहुत बड़ा मकड़ा है। रामचरन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इतना बड़ा मकड़ा तो उसने कभी नहीं देखा। वह कितनी तेज़ी से उसके पैरों को चारों ओर से जाले में बाँधता ऊपर चढ़ा आ रहा है! ओह! यह तो कमर तक पहुँच गया! रामचरन पाँवों को झटका दे जाला तोड़ देना चाहता है लेकिन उसका पैर तो ज़रा भी नहीं हिलता। इतना मोटा और मज़बूत कहीं मकड़े का जाला होता है! लो, अब तो उसके हाथ भी कमर के साथ बँधने लगे। वह हाथ निकालने की कोशिश करता है लेकिन उसके हाथों में तो हिलने की ताक़त भी नहीं। वह मक्खी की तरह छटपटाने लगता है लेकिन मकड़ा उसकी छाती तक पहुँच गया है। उसका दिल जैसे भींचा जा रहा है। पसलियाँ चरमरा रही हैं। अब तो गला भी बँधा रहा है। ओह! यह तो दम घुटने लगा। छटपटाकर प्राणों का ज़ोर लगा, मुँह खोलकर रामचरन चीखना चाहता है लेकिन चीख मुँह से नहीं निकलती। प्राण निकले जा रहे हैं। असह्य पीड़ा से रामचरन छटपटा रहा है। आँखें निकली आ रही हैं। अजब साँसत में प्राण पड़ गये हैं। ओह! ओह! ओह! हाय मरा! हाय मरा! रामचरन आखिरी बार आँख खोलकर हसरत से चारों ओर देखता है कि उसे अपनी छाती पर चढ़ा हुआ एक यमदूत पंजों से उसका गला दबाते दिखायी देता है। मारे आतंक के उसकी घिग्घी बँध जाती है। अन्दर से रुलाई फूटी पड़ती है लेकिन मुँह से नहीं निकलती। आँखों से आँसू बहे जा रहे हैं। अब

गया, गया! तभी उसे एक अट्टहास सुनायी देता है। वह आँखें झपकाकर फिर देखता है, पीली पगड़ी, पीला कुरता, पीली धोती...अरे, यह तो महाजन उसकी छाती पर बैठा उसका गला दबोच रहा है, यमदूत नहीं। और न जाने कैसे उसके मँह से मरने के समय की एक चीख सारे बन्धनों को तोड़कर निकल जाती है—अरे बाप रे, मार डाला!

रामचरन की औरत चीख सुनकर चिहुँककर उठ बैठी और मरद के पास दौड़ी आ उसे हिलाती बोली—क्या हुआ, क्या हुआ?

रामचरन ने फटी-फटी आँखों से मुर्दे की तरह उसे देखा।

—इस तरह तुम चीखे क्यों?—भयातुर औरत बोली—कोई खराब सपना देखा क्या?

पसीने से थकचक रामचरन को सकता लग गया था। देह मुर्दे की तरह सुन्न हो गयी थी। वह ख़ुद समझ न पा रहा था कि यह सपना था या सच?

•

पियारा बुआ

उस दिन सुबह की सफ़ेदी अभी धपी भी नहीं थी कि इमली-तले के तीनदरे से पियारा बुआ के रेघा-रेघाकर रोने की आवाज़ सारे मोहल्ले में गूँज उठी। रुलाई में ऐसा दर्द कि पिछले पहर के नींद में माते सन्नाटे का सीना चाक-चाक हो रहा था। आदमियों की नींद तो हवा हो ही गयी, इमली पर बसेरा लेनेवाले पंछी और उसके नीचे खूँटों ने बँधे हुए चौपाये भी ऐसे चीख़ने और डकराने लगे कि जैसे यह दर्द उनसे भी सहा न जा रहा हो। और सब के ऊपर तो पियारा बुआ की बछिया के डकराने की आवाज़ थी, ऐसा लगता था, जैसे उसकी गर्दन पर कोई क़साई छुरी फेर रहा हो।

सारे मोहल्ले में जगरम हो गया और जो जैसे था, वैसे ही पियारा बुआ के तीनदरे की ओर भाग खड़ा हुआ। सोये बच्चों की चिन्ता न होती तो बहुएँ भी वहाँ जाने से अपने को न रोक पातीं। फिर भी वे अपने-अपने दरवाज़े पर खड़ी हो, उत्सुकता और आकुलता से भरकर तीनदरे की ओर मुँह किये, कान रोपे उधर से आनेवाली आवाज़ों को

सुनने की कोशिश करने लगीं।

आँख, गाल और मुँह से हमेशा हँसती रहनेवाली पियारा बुआ कभी रोती न हों, ऐसी बात नहीं। महीने-दो महीने में एक-आध बार वह ज़रूर रोतीं। उनकी रुलाई में दर्द भी कम न होता। लेकिन आज की रुलाई तो जैसे सौ रुलाइयों में एक रुलाई हो, जैसे पियारा बुआ सच में आज ही बेवा हुई हों।

देखते-देखते तीनदरे के सामने छोह-भरे लोगों का ठट्ठ लग गया। ओसारे में नाक तक मारकीन की धोती का घूँघट खींचे, पाँवों पर बेहाल-सी बैठी, गर्दन झुकाये, बायें हाथ पर गाल टेके रेघा-रेघाकर पियारा बुआ रो रही थीं—आ रामा! इहे दिनवा दिखावे खातिर तू हमके छोड़ि गइलऽ हो रामा! अ-ह-ह...

दाबे पर धरमुआ एक हत्यारे की तरह सिर झुकाये बैठा था और दालान में उसकी औरत। पियारा बुआ को चारों ओर से घेरकर औरतें बैठी थीं और और उन्हें छू-छूकर या उनके कन्धे या सिर पर हाथ रख-रखकर उन्हें चुप कराने की कोशिश करती रोने का सबब पूछ रही थीं। लेकिन पियारा बुआ का सिर तो जैसे उठना ही भूल गया था। मनुहार पाकर उनकी रुलाई जैसे और भी अगरा गयी थी।

अगराने की बात ही थी। पियारा बुआ को आँख दिखानेवाले यह जान तो ले कि उन्हें जानने-माननेवाले कितने हैं! मोहल्ले और गाँव की बात कौन चलावे, बाहर के आने-जानेवाले पंथी भी जितना पियारा बुआ को जानते-मानते थे, उतना कितनों के नसीबों में होता है! जो कोई भी वहाँ आता या जहाँ-कहीं भी वह जातीं, 'पियारा बुआ-पियारा बुआ' कहते लोगों की ज़बान घिसती। बहुओं और औरतों का तो तीज-त्यौहार भी बिना उनके हुँकारी पारे न होता। ऐसी कोई बहू नहीं, जो पियरी पहने और उनके पाँव छूकर असीस न ले। ऐसी कोई औरत

नहीं, जो कोई गहना बनवाये और उनसे राय न ले। किसी बच्चे के दाँत उठें तो घुट्टी वो तैयार करें, किसी की आँख आये तो रुखरा वो पारें। किसी के नाक-कान छेदने हों तो पियारा बुआ! बियाह-शादी, पूजा-पाठ में वो गीत कढ़ावें, तो गीत शुरू हो। किसी के भी रंज-ग़म में सब से आगे वो। किसकी इज़्ज़त उन्होंने नहीं ढँकी, किसकी ज़रूरत पर वह काम न आयीं, किसके घर की लगी को बुझाने में उन्होंने मदद नहीं की, किसकी बिगड़ी उन्होंने नहीं बनायी! मर्द भी उनका मुँह जोहते, बिना उनकी राय लिये कोई क़दम न उठाते। घर के सामने रास्ते से गुज़रनेवाले किसी पंथी को बिना दो घड़ी बिलमाये और मीठा-पानी पिलाये वह चले जाने दें, ऐसा कभी हुआ नहीं।

इसी गाँव में वह पचास पार करने को आयीं। उन्हें 'पियारा' कहके पुकारनेवाले गाँव में अब इने-गिने ही रह गये हैं। कभी-कभी बात चलने पर उनमें से कोई बताता है।

आज पियारा को देखकर कौन कह सकता है कि यह सुन्दर शरीर लेकिन फूटा करम लेकर दुनिया में आयी थी। ब्याह की डोली चढ़कर गयी, तो तीन महाने के अन्दर ही भगाके (विधवा होकर) वापस आ गयी। और यहाँ छः महीने के अन्दर ही बेबाप की हो गयी। छोटा इकलौता भाई धरमुआ उस वक्त बारह का था और माँ ऐसी बकलोल (मूर्ख) कि इस दोहरे सदमे से उसका दिमाग ही चल गया। उसके रोने और हँसने मे कोई फरक ही नहीं रह गया। पियारा का देवर किया-करम में आया, तो उसने पियारा को ले जाने की इच्छा प्रकट की। पियारा का एक दयाद (पट्टीदार) माँ-भाई को अपने यहाँ रखने को तैयार हो गया। लेकिन पियारा बोली—मेरी जो गति अब होनी होगी, यहीं होगी। तुम लोग खोज-खबर लेते रहना, और मैं कुछ नहीं चाहती।

और पियारा को देह पर जो मारकीन की धोती चढ़ी तो फिर कोई

दूसरा कपड़ा किसी ने कभी भी नहीं देखा। और जो उसका घूँघट भौंहों के नीचे झुका तो तब से किसी मर्द ने उसकी आँखें न देखीं। कोई कहता, पियारा, तू गाँव की बेटी है, यह घूँघट काहे को काढ़े रहती है ? तो वह कहती, भैया, इसी की सरम बची रहे !

बाप पोत पर लेकर एक बैल से खेती करता था। क्रिया-करम में बैल बिक गया था। पियारा से खेती क्या होती। वह एक पिसनहारी के साथ मिलकर घर की जाँत पर दिन-रात कनिक (आटा) पीसने लगी। बाज़ार के दिन वह धामी (टोकरी) में कनिक सजा माथे पर ले पिसनहारी के साथ कस्बे बेचने जाती। थोड़े ही दिनों में उसकी कनिक बाजार में मशहूर हो गयी। फिर धरमू के माथे भी वह कनिक ले जाने लगी। सत्तू चाट-चाटकर तीन बरस तक उसने गुजर किया। फिर एक दिन देखा गया कि उसके ओसारे में कुरुई और मउनी सज रही हैं। मालूम हुआ कि वह कनिक के साथ-साथ मर-मसाले की दुकान भी खोलने जा रही है।

कहते हैं, पियारा का तभी से दिमाग खुल गया। एक दिन वह था और एक दिन यह है। पियारा ने तीनदरा बनवा लिया, धरमू की शादी रचायी। अपने मीठे व्यवहार, परोपकारी स्वभाव और परिश्रम की कमाई की बदौलत उसने मोहल्ले और गाँव को जीत लिया। और सब की प्यारी 'पियारा बुआ' बन गयी। और भैया, मारकीन की धोती और भौंहों के नीचे तक घूँघट में उसे आज देखो, तो क्या तुम कह सकोगे कि वह पचास पार करने को आयी ? ऐसी मजबूत काठी और मेहनत की बनी तन्दुरुस्ती कि उसे देखकर मुश्किल-से-मुश्किल काम भी दहल जाय !

लेकिन भैया, जब से धरमू की शादी हुई है, रह-रहकर कभी-न-कभी बरतन बज ही उठते हैं। बेचारी पियारा लड़ाई-झगड़ा क्या जाने, वह

नाक तक घूँघट खींचकर बस रोने लगती है। और उसकी रुलाई का दर्द किसी से सहा नहीं जाता। और तो और, पियारा की बछिया ऐसे डकारने लगती है कि जैसे उसकी गर्दन पर कोई कसाई छुरी फेर रहा हो। कभी-कभी डर लगता है, भैया, कि कहीं बछिया पगहा न तुड़ा दे। पियारा के देवर अब भी साल-छै महीने में खोज-खबर लेने आते हैं। कहीं कसाई धरमुआ और उसकी औरत के कारण पियारा मोहल्ला-गाँव छोड़कर अपनी ससुराल चली गयी तो...

और कहनेवाले बूढ़े की कुचकुची आँखों से लोर ढरकने लगता है।

लेकिन सुननेवाला एक अजीब मुस्कान होंठों पर लाकर कहता है—बाबा! मोहल्ला-गाँव धरमुआ से कहीं बड़ा है, वह अपनी पियारा बुआ को कहीं भी नहीं जाने देगा! यह खूँटा कोई वैसा कमजोर नहीं!

•

प्रकाश का देवता

देवता नींद से जागकर जमुहाई लेता हुआ उठ बैठा। आज उसके प्रकाश-पर्व की संध्या थी, किन्तु इस महापर्व का उल्लास न तो उसके मुख पर प्रतिभासित था और न उसके नेत्रों में ही। बल्कि, इसके विरुद्ध, उसके मुखड़े पर पीड़ा की ऐसी ऐंठती रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और उसके नेत्रों में ऐसी निस्तेजता व्याप्त थी कि ज्ञात होता था, जैसे वर्षों से वह भूखा हो। सचमुच उसकी ऐंठती अँतड़ियों की प्रतिच्छाया ही जैसे उसके मलिन मुख पर पड़ रही हो।

नेत्रों से दीप-प्रकाश पीकर ही जीवित रहनेवाले देवता की यह दशा वर्षों से चली आ रही है। प्रति सन्ध्या वह अपनी गुफ़ा से निकल, हिमालय की सर्वोच्च चोटी पर चढ़कर अपने देश की ओर दृष्टिपात करता है। चारों ओर छाये घटाटोप अन्धकार में उसकी दृष्टि प्रकाश की किसी किरण को खोज निकालना चाहती है; किन्तु हताश हो वह चारों ओर घूमकर लौट आती है और वह भूखा ही चोटी से उतरकर अपनी गुफ़ा में आ लेटता है। हाँ, प्रकाश-पर्व की सन्ध्या को अवश्य

कुछ प्रकाश की किरणें उसकी दृष्टि को मिल जाती हैं। किन्तु वर्ष-भर के भूखे देवता का उन चन्द किरणों से क्या बनता है? यह तो जैसे उसकी भूख को और भी आग लगा देता है। फिर ये किरणें भी पिछले कुछ वर्षों से जैसे एक-एक कर बुझती जा रही हैं। भूखा देवता क्षुब्ध हो-होकर रह जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि उसके देश को क्या हो गया है? एक समय असंख्य दीप-मालिकाओं के प्रकाश से लोहित हो उठनेवाली रातें अब अन्धकार के महागर्त्त में क्यों डूबती जा रही हैं? कई वर्षों से वह इन प्रश्नों का उत्तर पा लेने की चिन्ता में है। कई बार उसने सोचा है कि हिमालय की चोटी पर चढ़ने के बदले उसे नीचे उतरकर, अपने देश में जाकर इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ना चाहिए, किन्तु हर बार अगले वर्ष की आशा में वह प्रतीक्षा करने लगता है। और इस प्रतीक्षा ने आज उसे नितान्त जर्जर कर दिया है। भूख से ऐंठती अँतड़ियों को हाथ से दबाये वह अपनी गुफ़ा में पड़ा दिन-रात आँसू बहाया करता है कि उसके देश को क्या हो गया, रात को दिन बनानेवाली उन असंख्य दीप-मालिकाओं को क्या हो गया, घी की सदा बहनेवाली उन नदियों को क्या हो गया?

यही कारण है कि आज प्रकाश-पर्व की सन्ध्या को भी देवता के मुखड़े पर इस महापर्व का उल्लास बच्चों की तरह नहीं उभरा। उसकी आशाएँ आज सीमा से भी बहुत अधिक प्रतीक्षा कर सर्व प्रकार कुंठित हो गयी थीं। भूख की पीड़ा और क्षुब्धता भी आज अपनी सीमाओं का उल्लघन कर चुकी थी। वह काँपता हुआ उठ खड़ा हुआ। मन-ही-मन उसने एक निश्चय किया। दृढ़ता की चिनगारियाँ उसकी आँखों से छिटक पड़ीं। गुफा में जैसे कुछ भक-से जल उठा। वह मज़बूत क़दम रखते हुए गुफा से बाहर आया। एक बार चोटी की ओर आँखें उठीं; किन्तु दूसरे ही क्षण उसका सिर हिल गया। नहीं-नहीं, आज वह उस चोटी

पर नहीं चढ़ेगा ! आज वह नीचे अपने देश में उतरेगा ! आज सब-कुछ वह अपनी आँखों से ही देखेगा, सब-कुछ !

और दोनों हाथों से प्रगाढ़ अन्धकार को चीरता, बिजली की तरह दृष्टियों से राह बनाता, दैवी वेग से वह नीचे उतरने लगा।

(२)

पहाड़, जंगल, घाटियाँ। अन्धकार, घना अन्धकार ! कहीं भी प्रकाश की एक किरण का नाम नहीं। कहीं-कहीं भेड़ों की में-में और गीली लकड़ियों का धुआँ। झोपड़ियाँ अन्धकार में एकाकार। देवता ठिठका। क्या घाटियों के वासी आज प्रकाश-पर्व नहीं मना रहे हैं ? क्या इनके पास इतना भी घी नहीं कि अपने देवता के भोग के लिए इस महापर्व पर भी एकाध घड़ी के लिए कुछ दीप जला सकें ? देवता ने घूर-घूरकर चारों ओर देखा कि कोई मिल जाय, तो उससे पूछे; किन्तु वहाँ ठिठुरते अन्धकार में कोई छाया तक दृष्टिगोचर न हुई। अतएव अधिक समय नष्ट कर वह आँधी के वेग से आगे बढ़ा। कदाचित आगे कुछ ज्ञात हो सके। पहाड़ियाँ, जंगल, नदियाँ, तराई। अन्धकार, प्रगाढ़ अन्धकार ! कहीं-कहीं ढोरों के गले की घंटियों की टुनटुनाहट और जलती लकड़ियों के चटखने की आवाज़ें। देवता जलती लकड़ियों के पास की एक झोपड़ी के सामने खड़ा हो गया। उसने कई आवाज़ें दीं; किन्तु साँसों की आवाज़ों और मच्छरों की भिनभिनाहट के सिवा किसी शब्द ने उसकी पुकार का उत्तर न दिया। वह क्या करे, किससे कुछ पूछे ! किन्तु बिना पूछे क्या यह प्रकट नहीं है कि आज प्रकाश-पर्व की रात को भी वे क्यों अभी से प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हो गये हैं ? चिन्तित देवता तूफ़ानी वेग से आगे बढ़ा। मैदानों के अन्धकार में छिपे, सोये गाँवों को छेड़ना उसने व्यर्थ समझा। वे गाँव साक्षात् अपनी कहानी बने दुर्दिन के अन्धकार में डूबे हुए शान्त पड़े थे। कहीं महापर्व

का कोई चिह्न दृष्टिगोचर न हो रहा था। देवता और भी तीव्र गति से आगे बढ़ता गया, बढ़ता गया।

अचानक सामने दूर आकाश को आलोकपूर्ण देखकर देवता की आँखों में आश्चर्य तथा हर्ष की बिजली कौंध गयी। उसका अंग-अंग प्रसन्नता के मारे कंटकित हो उठा। क्षुधा-तृप्ति का साधन निकट ही देख उसकी सूखी जिह्वा होंठों पर फिरने लगी। वह और भी तीव्र गति से उधर लपका। ओह, कदाचित उसकी नेत्र-शक्ति अब दुर्बल हो गयी है। तभी तो हिमालय की चोटी से वह इस स्थान को लक्ष्य न कर सकता था। या कदाचित उसके दृष्टि-पथ में ही कुछ व्यवधान आ पड़े हों, जिनके कारण वह अब तक इस प्रकाश से वंचित रहा। व्यर्थ ही वह नाना कुशंकाओं से अपने को व्याकुल कर रहा था। कौन कहता है कि उसके देश में आज असंख्य दीप-मालिकाएँ नहीं जलतीं? कौन कहता है कि उसके देश की घी की नदियाँ अब सूख गयी हैं? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! उसके देश में ऐसा कभी हो ही नहीं सकता! वह आलोक, वह प्रकाश! अत्यधिक प्रसन्न हो वर्षों से भूखा देवता आज इतने दिनों में पहली बार मुस्कराया। प्रकाश! प्रकाश! असंख्य दीप-मालिकाओं का प्रकाश, जिससे अमा की रात भी आलोकमय हो उठी है! देवता के पैरों में अनन्त, उद्दाम शक्ति का जैसे प्रवेश हो गया। वह सौगुनी तीव्रता से उधर लपका।

(३)

नगर, विशाल नगर। देवता ने कल्पना भी न की थी कि इस अल्प काल में ही उसके देश में कोई इतना बड़ा नगर भी बस गया है। उसे हर्ष हुआ कि उसके मानव आज इतनी उन्नति कर गये हैं। उसने नगर में प्रवेश किया। किन्तु यह क्या? नगर के ऊपर के आकाश के नीचे, जो दूर से आलोकपूर्ण दिखायी दे रहा था, अन्धकार क्यों? देवता

ने आश्चर्यचकित आँखें ऊपर उठायीं, तो उसे ज्ञात हुआ कि वह आकाश का आलोक नगर के सबसे ऊँचे महल का था। वह महल क्या था, मानो दीप-मालाओं से ही उसका निर्माण हुआ हो। गगनचुम्बी उस महल का कण-कण असंख्य दीपों के सुन्दर प्रकाश से हीरों के कणों की तरह जगमग-जगमग कर रहा था। चारों ओर छाये अन्धकार के बीच दीपों का वह महल, जैसे देश का सारा प्रकाश वहीं आकर सिमट गया हो!

भूखे देवता के होश उस अभूतपूर्व प्रकाश को देखकर उड़ गये। वह ललककर प्रकाश पीने लगा। उसकी वर्षों की भूख आज बुझ जायगी! आज उसकी आत्मा पूरी तरह तृप्त हो जायगी! प्रकाश, अद्‌भुत प्रकाश, अलौकिक प्रकाश! देवता गट-गट पीता गया, पीता गया...

सहसा एक दुर्गन्ध से उसका मस्तिष्क भिन्ना उठा। ज़ोर से मिचली आयी और दोनों हाथों से पेट थामकर वह ओ-ओ कर उल्टी करने लगा। आँखों से पानी की धाराएँ बह चलीं, सिर फटा जा रहा था, अँतड़ियाँ मुँह को आ रही थीं।

तभी एक भयंकर, क्रूर अट्टहास देवता के कानों में गूँज उठा। देवता ने भीगी हुई लाल आँखें ऊपर उठायीं। सामने महल के सिंहद्वार पर खड़ा एक भयंकर काला दानव हाथों में खड्ग लिये, सीमा तक मुँह फाड़े अट्टहास कर रहा था।

देवता का तमतमाया मुख क्रोध से काँप उठा। उसने कड़ककर पूछा—तू कौन है?

दानव ने हँसते हुए देवता की ओर एक दृष्टि फेंकी। और फिर उसकी ओर देख-देखकर वैसे ही अट्टहास करने लगा।

देवता हक्का-बक्का हो, क्रोध से तिलमिलाता, खड़ा-खड़ा ताकता रहा।

—पिओ ! और पिओ ! हा-हा-हा !—दानव पुनः अट्टहास कर उठा।

—तू कौन है ? बोल ! नहीं तो...—प्रहार करने के लिए हाथ उठाकर क्रुद्ध देवता ने दाँत किटकिटाते हुए कहा।

हँसते हुए ही, आँखों से चिढ़ाता दानव बोला—तू मुझे नहीं पहचानता ? लेकिन मैं तुझे पहचान गया। पी, और प्रकाश पी ! देखा इस प्रकाश का मज़ा ?—और वह पुनः अट्टहास कर उठा।

देवता ने घूरकर दानव को देखा। उसे कुछ-कुछ ऐसा भास हुआ कि वह उसे पहचानता है। अभी वह स्मृति को कुरेद ही रहा था कि दानव ने बगल से एक दीप उठाया और उसे झुकाकर द्रव भूमि पर गिराता हुआ वह अट्टहास करता बोला—देख, देख, यह द्रव देख !—और फिर ज़ोर से वह अट्टहास कर उठा।

—रक्त ! मानव का रक्त !—देवता सीमा से भी अधिक आँखें फाड़कर देखता हुआ बोला।

—हाँ, तेरे मानवों का रक्त !—दानव ने फिर अट्टहास किया और दीप की बत्ती अँगुलियों से ऊपर हवा में उठाकर बोला—देख, देख, यह बत्ती देख !—और फिर वह अट्टहास कर उठा।

—अँतड़ियाँ, मानव की अँतड़ियाँ !—देवता ने बाहर को फटती आँखों से देखकर कहा।

—हाँ-हाँ, तेरे मानवों की अँतड़ियाँ !—दानव ने फिर अट्टहास किया और दीप को उलटकर कहा—देख, देख, यह दीप देख !—और वह फिर भयंकर रूप से अट्टहास कर उठा।

—खोपड़ी ! मानव की खोपड़ी !—देवता बाहर निकल आयी आँखों से घूरता हुआ बोला।

—हाँ-हाँ, तेरे मानवों की खोपड़ियाँ हमारे यहाँ दीपों के काम में

लायी जाती हैं ! अब समझा कि इस प्रकाश का वैसा स्वाद क्यों था ? हा-हा-हा ! तू इस प्रकाश को नहीं पचा सकता ! अब पहचाना हमें ?—कहकर दानव ने फिर अट्टहास किया ।

देवता की आँखों में क्रोध की बिजलियाँ चमक उठीं । वह चीखकर बोला—दुष्ट ! तू हमारे देश में आ गया ! तेरा इतना साहस ! तू किधर से आया ? तुझे रहने के लिए यहाँ किसने स्थान दिया ? हमारे मानव.....

—हा-हा-हा ! तुम्हारे मानव !...हा-हा-हा !...तुम्हें क्या यह ज्ञात नहीं कि तुम्हारे मानवों में भी बहुत-से ऐसे हैं जिनके रक्त में हम दानवों का अंश है ? अवसर पाकर उन्होंने ही हमें निमन्त्रित किया, और यहाँ बसने का अवसर दिया ।...और हमारा प्रभाव अब देख रहा है तू ? देख, देख, चारों ओर छाये अन्धकार को देख और हमारे जगमग-जगमग करते इस महल को देख ! वह अँधेरा तेरे मानवों का भाग है और यह महल हमारे दानवों का । आज तेरे मानवों की सारी सम्पदा, सारी शक्ति, सारा रक्त-मांस निचुड़कर हम दानवों के पास आ गया है । आज हम सर्व शक्तिमान हैं ! आज हमसे सामना करने की शक्ति किसमें है ? हा-हा-हा ! और देख रहा है तू अपने मानवों की दुर्दशा !.....भूख, दुख, दुर्बलता, नग्नता, बेकारी ! हा-हा-हा ! और तू देखेगा हमारे महल के दानवों की सम्पदा.....

—चुप रह, दुष्ट ! नहीं तो...—देवता ने प्रहार करने के लिए हाथ उठाया ।

उसका हाथ खड्ग से रोककर दानव ने गरजकर कहा—इस नंगे, कमज़ोर हाथ को क्यों कटवाना चाहता है ? हमारी शक्ति की क्या तू कल्पना नहीं कर सकता ? आज तेरे मानव तेरी ही भाँति नंगे हाथ और कमज़ोर हैं और हमारे दानव मेरी ही भाँति अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित

और शक्तिशाली! क्या समझकर तू यह हाथ उठाता है? हा-हा-हा!—दानव ने फिर अट्टहास किया और देवता को और भी चिढ़ाने के लिए कहा—आ-आ, ज़रा अन्दर तो देख! कैसे हमारे दानव जुए पर तेरे मानवों का दाँव लगा रहे हैं! आज तेरा प्रकाश-पर्व है न! देख, इसे हम कैसे मना रहे हैं! हा-हा-हा! तेरे मानवों के रक्त की वारुणी, नर-मांस.....

—बस-बस!—और अधिक सुनना देवता की सहन-शक्ति के परे हो उठा। असीम दुख और क्रोध से काँपकर उसने कहा—चुप रह, मदान्ध! कदाचित तू उस युद्ध को भूल गया, जिसमें मेरे मानवों ने तेरी सेना को खदेड़कर देश की सीमा से बाहर कर दिया था! क्या उस समय भी तू अपने को उतना ही शक्तिशाली नहीं समझ रहा था? क्या उस समय भी हमारे मानव निरस्त्र तथा दुर्बल न थे? फिर भी मेरे मानवों ने जब संगठित होकर तुझपर आक्रमण किया, तो तेरी क्या दशा हो गयी थी? अबकी तेरा अंश-अंश नष्ट कर के ही दम लेंगे!—कहकर आग्नेय नेत्रों से राक्षस की ओर एक बार देखकर देवता काँपता हुआ मुड़ गया।

राक्षस अट्टहास करता रहा और देवता अन्धकार में छिपी झोपड़ियों की ओर तेज़ चाल से बढ़ता चला जा रहा था।

●

सपने का अन्त

उस दिन शाम को चौक में बस के अन्दर घुसते ही सामने जिस व्यक्ति पर मेरी नज़र पड़ी, उसे उस रूप में देखकर मेरी आँखें फैल गयीं। शायद उसकी भी नज़र मुझपर पड़ गयी थी, तभी तो उसने मुँह फेरकर नज़रें चुरा लीं। मैं स्वयं आश्चर्य का झोंका न खा गया होता तो देखता कि मुँह फेरते समय उसकी मुख-मुद्रा कैसी थी। अवसर खो देने का अफ़सोस एक क्षण को हुआ। फिर जैसे एक गन्दी शरारत मन में कुलबुला उठी। मैं एक अजनबी की तरह उसकी बग़लवाली सीट पर बैठ गया, और गर्दन खुजलाने के बहाने उधर कनखियाँ कीं तो देखा कि वह उस दो आदमियों के बैठने की छोटी-सी सीट पर मेरी ओर से जितना भी सम्भव हो सकता था, सिमट-सिकुड़कर, मुँह फेरकर वैसे ही बैठा था, जैसे एक फ़रार हत्यारा यह जानकर कि एक सी० आई० डी० उसकी बग़ल में आ बैठा है।

लेकिन न वह हत्यारा था और न मैं सी० आई० डी०। हाँ, एक समय उसके जीवन में सी० आई० डी० का महत्त्व सब से अधिक ज़रूर

था। शायद उसी बात के याद आ जाने से मेरे मन में यह उपमा आप ही उठ पड़ी।

* * *

वह सन् उन्नीस सौ उनचास का ज़माना था। एक दिन हमारे प्रेस के पास के चौराहे के अभी-अभी तैयार हुए मकान पर सहसा ही 'भारत रेस्टारेन्ट' का साइन-बोर्ड लटका दिखायी दिया, तो हमारी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। प्रेस में हम लेखक और पत्रकार क़िस्म के पाँच जीव थे। चाय और सिगरेट हमारी खाज होती है, यह कौन नहीं जानता? प्रेस के आस-पास कोई चाय की दुकान न थी। हम दिन-भर तड़पकर रह जाते। हमारे एक साथी तो, जब नये-नये इस प्रेस में आये थे, अपने साथ थर्मस में भरकर कई दिन तक चाय लाते रहे। लेकिन जब हम भूखे, ज़रा बेतकल्लुफ़ी बढ़ते ही, जब उनके थर्मस पर धावा बोलने लगे, तो एक दिन उन्होंने बताया कि थर्मस फूट गया और आजकल थर्मस इतना महँगा है कि दूसरा ख़रीदने की हिम्मत नहीं होती। बात उनकी सच हो या झूठ, लेकिन इतना तो हम जानते थे कि रोज़-रोज़ की यह बला सर लेना हमा-सुमा के बस की बात न थी। सो, रेस्ताराँ खुलने की ख़ुशी हमें उतनी ही हुई, जितनी किसी दूर-दराज़ के गाँववालों को किसी दिन सुबह यह देखकर हो कि गाँव में रेल का 'टीसन' खुल गया है; और जिस तरह वे लपककर पहली ट्रेन पर यों ही दो-चार 'टीसन' घूम आने के लिए चढ़ बैठेंगे, उसी तरह हम भी उसी दिन, पहली फ़ुरसत में ही वहाँ जा बैठे। चाय यों कोई अच्छी न थी, फिर भी हमने ख़ूब मज़ा ले-लेकर पी, नये प्याले और प्यालियाँ तो थीं!

मेरी ख़ुशी की दुहरी वजह थी। मैं उस चौराहे से मुश्किल से पचीस क़दम पर एक कमरा लेकर अकेला रहता था। सुबह-शाम खाने के

लिए मुझे रोज़ एक मील का चक्कर लगाना बेतरह खल जाता था। उससे नज़दीक कोई होटल था ही नहीं। लेकिन अब उस चक्कर से भी छुटकारा मिल गया। नये रेस्तराँ में खाने का भी इन्तज़ाम था।

सुबह तो ख़ैर दस बजे खाना ही पड़ता। लेकिन रात को मैं बहुत देर से खाता। खा-पीकर लिखने-पढ़ने बैठना मेरे लिए मुश्किल होता है। होटलवाला मेरा ख़याल रखता, बारह बजे भी मुझे गरम कराके खाना देता। मामूली आदमी था, सो ब्यापाराना शराफ़त मेरे साथ बरतता। अच्छा-ख़ासा एक ग्राहक था मैं उसका।

उस होटल में सब से ज़्यादा 'बोर' वह होटलवाला ख़ुद था। उसके काले चेहरे पर दाद के कितने ही चकत्ते थे। लगता, जैसे पसर-पसर-कर कितनी ही छोटी-बड़ी मकड़ियाँ बैठी हों। वह काउंटर पर बैठा दोनों हथेलियों से बराबर उन्हें रगड़ा करता और ऐसे-ऐसे मुँह बनाता, जैसे कभी खटाई खा रहा हो, कभी मिठाई, कभी नमकीन और कभी चरपरा। कपड़े तो उसके गन्दे होते ही। और मेरे-जैसे आदमी के लिए सब से अधिक जो असह्य बात थी, वह यह कि वह बात बहुत करता और हर विषय की। पढ़ा-लिखा वह बहुत कम था, पर होटल के ब्यापार के कारण उसे साहित्यिक, राजनीतिक जीवों की छुतही सुहबत का काफ़ी मौक़ा मिला था और वह भी उन्हीं की तरह बुलक्कड़, अक्खड़ और हर बात का जानकार बन गया था।

दिन में तो न उसे मौक़ा रहता, न मुझे। लेकिन रात को ग्यारह-बारह बजे जब मैं पहुँचता, तो वह भी मेज़ पर मेरे साथ ही आ बैठता और कभी-कभी तो खाता भी। मालिक के साथ बैठकर खाने में फ़ायदा रहता है। काश, वह ज़रा तबीअत-लायक़ मालिक होता! वह चुपचाप बैठकर खा लेता, तो भी एक बात थी। लेकिन वह जब कितनी ही अधकचरी साहित्यिक और राजनीतिक बातें उठाकर बकना शुरू करता,

तो सच मानिए, खाना हराम हो जाता। इसपर तुर्रा यह कि वह चाहता कि मैं भी उसके साथ बाक़ायदा बहस में हिस्सा लूँ। 'हूँ-हूँ' को, पता नहीं क्यों, वह अपने लिए कोई प्रशंसा की बात न समझता। भला मैं थका-थकाया दिल-दिमाग़ लिये उसकी बहस की भूख क्या शान्त करता ?

वह छेड़ता—चौक में मेरा जो होटल है न, उसमें, साहब, हर शाम को साहित्यिकों का जमावड़ा होता था। वह-वह बहसें छिड़ती थीं... —फिर नाम गिनाने लगता—उनको तो आप जानते हैं न ?..... वाह, क्या प्रतिभा है उनकी ! साहब, पाँच-पाँच घंटे मेरे होटल में बैठे रहते हैं ! कहते हैं, और किसी होटल में कोई मज़ा ही नहीं मिलता। उन्हीं के कहने से एक बार अपने यहाँ मैंने कवि-सम्मेलन भी किया था। रसिकों की सुहबत ! हाय-हाय ! क्या बताऊँ ?—फिर वह बड़े बेटे से झगड़े की और उससे अलग होकर यह होटल खोलने की कहानी कहकर कहता—लेकिन यहाँ वह रंग नहीं, बाबूजी।...एक आप हैं भी तो...मैं सोचता हूँ, ज़िन्दगी कैसे कटेगी यहाँ ?...उम्र तो सारी... और 'मोमिन' के शेर की मिट्टी पलीद करके वह उसाँसें भरने लगता।

और मैं, कभी फ़ुरसत मिली तो इतमीनान से बातें करूँगा, कहकर उठ जाता।

लेकिन उसकी छेड़ बराबर जारी रहती। बेचारे की, चाहे जैसी भी हो, एक ढली ज़िन्दगी बरबाद हो गयी थी। पचास के बाद अब उससे कटकर, सचमुच ही वह दुखी रहता था। वह उन साहित्यिकों के लिए भी कम दुखी न था, जिनका एक बसा-बसाया शाम का आशियाना उसके हटते ही उजड़ गया था।

एक रात हम दालान में बैठे खा रहे थे। एक नौकर को छोड़कर सभी थक-थकाकर इधर-उधर लेटे-अधलेटे ऊँघ रहे थे। सड़क की

दूकानें बन्द हो गयी थीं। सन्नाटा-सा छा गया था। बस तीन-चार कुत्ते और एक बूढ़ा भिखारी होटल के चबूतरे पर पड़े अब भी जूठन की आस लगाये टुकुर-टुकुर ताक रहे थे।

तभी अचानक एक नौजवान की मूर्ति चबूतरे पर ऐसे आ खड़ी हुई, जैसे बिना किसी आवाज़ के आसमान से टपक पड़ी हो, या धरती से निकल आयी हो। मामूली सूट और टाई, सिर पर हैट, और पावों में किरमिची जूते। उसने एक नज़र भिखारी पर डाली, दूसरी कुत्तों पर और तीसरी हम पर। नज़र मोड़ने में गर्दन को जो हलके-हलके झटके उसने दिये, वे वैसे ही थे, जैसे कोई बड़ा अफ़सर अभ्यास करने के बाद ऐसे अवसरों पर देता है, जब कई आदमियों की ओर उसे एक-एक कर मुख़ातिब होना होता है। उसका पूरा धड़ लकड़ी की तरह खड़ा रहा, बस गर्दन और आँखों में ही हरकत हुई। फिर पंजों पर ज़रा-ज़रा आगे को झुकता-झुकता-सा, सीध में ज़रा नीची निगाह किये, ऊपर-नीचे ज़रा-ज़रा झूमता-झूमता-सा वह ऐसे अन्दर चला गया, जैसे बेआवाज़ हवा।

मालिक ने ज़ोर से पुकारा—अलगुआ! साहब की थाली लगा!

मैं भौंचक। अजीब साहब है! साहब और यह मामूली होटल, बारह बजे रात को! मैंने संकेत-संकेत में पूछा—ये कैसे साहब हैं?

उसने संकेत-संकेत में ही कहा—अभी रुकिए। सब बताऊँगा। बड़ा दिलचस्प आदमी है!

उसका ख़याल था कि साहब के बारे में कुछ जानने के लिए मैं रुकूँगा। उसे बात करने का मौक़ा मिलेगा, तबीअत बहलेगी, मज़े से कुछ वक्त कट जायगा। लेकिन मैं रुक नहीं सकता था। छः-सात घंटे न सोने पर दफ़्तर में मेज़ से सिर बजने लगता है, दिन-भर तबीअत उखड़ी-उखड़ी-सी रहती है। उठा, तो वह धीमे-धीमे बोला—सुनेंगे

नहीं ? सच कहता हूँ, कहानी-लायक एक ख़ासा मसाला है...—वह साहित्यिकों की संगत के कारण एक लेखक का लोभ समझता था।

तभी अन्दर से एक कड़कती आवाज़ आयी—हाथ धुलवाओ!—आँगन में पानी का बम्बा था। उसी पर हम ख़ुद हाथ धो लेते थे। लेकिन यह साहब...तभी फिर वही आवाज़ आयी—कुर्सी ठीक करो! मेज़ साफ़ करो!

—साहब, मेज तो साफ है,—वह अलगू की आवाज़ थी।

—तुम बात मत करो, मैन! हम जो कहता है, करो!

मैं फिर बैठ गया। मालिक मुस्कराकर बोला—देखा आपने ? बेहद दिलचस्प आदमी है, साहब ! आप सुनेंगे तो हैरान रह जायेंगे!

तभी फिर वही कड़कती आवाज़ आयी—छुरी-काँटा नहीं रखा ? कल हम तुम को कितना समझाया था ? हम रोज़-रोज़ बकना नहीं माँगता ?

—रोटी-दाल पर छुरी-काँटे की क्या जरूरत, साहब ? कबाब-वबाब होता...

— चुप रहो ! हम तुम से बहस नहीं माँगता ! जंगली ! तुम हमेशा छुरी काँटा हमारा मेज़ पर रखेगा, खाना प्लेट में लगायेगा ! हम थाली नहीं माँगता ! समझा ? हम मैनेजर से बोलेगा !

—आप जल्दी क्यों नहीं आते, साहब ? इस बखत तो सब जूठा पड़ा है।

यह अलगू भी एक ही आदमी है। आप शराफ़त से पेश आइएगा, तो वह पँचअँगुरों पर खड़ा और अगर आपने शान बघारी, तो वह काहे को बरदाश्त करने लगा ? आदमी-आदमी का स्वभाव होता है। इतने दिनों में मैं जान गया था कि अलगू किस स्वभाव का आदमी है। मालिक ने उसे पुकारा। वह आया, तो उसके थके चेहरे पर शिकनें

नाच रही थीं। मालिक ने संकेत-संकेत में ही होंठों की बेआवाज़ हरकत से उसे समझाया—जैसा कहता है, कर दो। नया गाहक है।

मेरी दिलचस्पी बहुत बढ़ गयी थी। लेकिन नावक्त का ख़याल कर उठ गया।

मालिक ने जैसे निराश होकर कहा—आप भी क्या साहित्यिक हैं!

मैं कल पर छोड़, माफ़ी माँग, चल पड़ा।

उस रात काफ़ी देर तक मुझे नींद नहीं आयी। वह अजीब साहब! साँवला, बेआब चेहरा, नक़श वैसे कुछ बुरे नहीं। वह अफ़सरी चाल, वह छुरी-काँटा, वह रोब और वह बोली! और यह निम्न मध्यम वर्ग का मामूली होटल। कुछ समझ में नहीं आ रहा था। कभी हँसने को जी करता और कभी मन उदास हो जाता। जाने...

दूसरी रात मैं अपने पर क़ाबू न रख सका। कुछ पहले ही होटल पहुँच गया, और आज पहली बार अपनी ओर से मैंने मालिक को छेड़ा।

उसने ख़ुश होकर कहा—अच्छा किया कि आज आप जल्दी आ गये। मेरा मुँह तो खुजला ही रहा था। और आपको भी आज पहली बार एक साहित्यिक की तरह व्यवहार करते देख रहा हूँ। मुझे तो रात आश्चर्य हुआ कि आप ऐसा मज़ेदार मसाला छोड़कर कैसे चले गये!

—क्या बताऊँ,—मैंने मुस्कराकर कहा—काम इतना रहता है...

—यह भी तो आपका काम ही है, साहब,—वह बीच ही में बोल पड़ा—आप मुझे जानते नहीं। मैंने बहुत बड़ी दुनिया देखी है। मेरे पास वह-वह तजुर्बे हैं कि अगर मुझे लिखना आता, तो मैं आज इस हालत में न पड़ा होता। अब आपको क्या बताऊँ कि मुझसे मसाला ले-लेकर कितने ही आज लेखक बने फिरते हैं! कोई यों ही मेरे साथ वक़्त थोड़े ख़राब करता था? आप देखिएगा, थोड़े दिनों में यहाँ भी

मेला लगने लगेगा...

—आप बिलकुल ठीक कहते हैं,—उसका बेलगाम घोड़ा रुकते न देखकर, मैंने कहा—दरअसल आप बेहद दिलचस्प आदमी मालूम होते हैं। मैं अपनी बदक़िस्मती को क्या कहूँ कि आप जैसे आदमी की संगत का फ़ायदा नहीं उठा पाता। ख़ैर, जब हमारा साथ हुआ है, तो कभी-न-कभी...

—आप कभी पीते-वीते नहीं?—उसने बिलकुल मेरे मुँह के पास अपना मुँह लाकर धीमे से कहा।

—जब आपका साथ हुआ है, तो कभी यह भी कर लूँगा आपके तुफ़ैल में,—मैंने उसकी बहक को अब रोक देना जरूरी समझकर कहा—वह साहब अभी खाने नहीं आया?

—वह बारह से पहले नहीं आता। अभी आधे घटे की देर है?

—यह कब से आ रहा है?

—परसों से ही तो!...परसों रात को जैसे ही आप खाकर गये, यह वैसे ही आ टपका, जैसे कल आपने देखा था। आप ही मालिक हैं? सुनकर जो मैंने आँखें उठायीं, तो सहसा डर गया। ऐसी अकड़ में, हाथ के हैट को नचाता वह मेरी ओर रोब से देख रहा था कि क्या बताऊँ? हड़बड़ाकर उठता मैं बोल पड़ा, कहिए, कहिए, बैठिए आप! हैट मेज़ पर रखकर वह ऐसे मुस्कराता हुआ बैठा, जैसे मेरे उस व्यवहार से मन-ही-मन उसे ख़ुशी हुई हो कि है उसके रोब का कुछ असर! फिर जो ज़रा सँभलकर, मैंने उसे ऊपर से नीचे तक देखा, तो अपने पर ही झल्ला उठा। बहुतों को देखने-समझने का मौक़ा ज़िन्दगी में मुझे मिला है, साहब! एक नज़र देखकर आदमी को न ताड़ जाऊँ, तो बात क्या? और वही बात हुई। उसने पूछा, खाना मिलता है आपके यहाँ? अब वह गाहक था और मैं मालिक। और आप तो जानते ही हैं, मेरे यहाँ

कैसे लोग यह सवाल लेकर आते हैं। मैंने बताया, हाँ, तो उसने माइवार्र का रेट पूछा। फिर सब नियम-क़ायदे समझकर बोला, इस वक़्त आपके यहाँ खाना मिलेगा? मैं खाकर ज़रा देख लेना चाहता हूँ। मेरा नौकर एक महीने की छुट्टी लेकर अपने देहात के घर चला गया है, तब तक का इन्तज़ाम करना है। दिन में तो, ख़ैर, मुझे खाना खाने आने की फ़ुरसत न मिलेगी। बस रात को ही खाऊँगा। हाँ, बारह के क़रीब ही मैं आ सकूँगा। इसके पहले आने की फ़ुरसत ही नहीं मिलेगी। फिर ज़रा कुछ सोचकर बोला, हाँ, एक बात आपको बता देना ज़रूरी समझता हूँ। मैं ज़रा अकेले में बैठकर खाना चाहूँगा। और आपको यह भी ख़याल रखना होगा, कि आपसे कोई पूछे कि क्या मैं यहाँ खाता हूँ, आता-जाता हूँ, तो आप कुछ बतायेंगे नहीं। यों तो इसका सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि इसका मुझे ख़ुद ही ख़याल रहेगा, कि कोई भी मुझे यहाँ आते-जाते न देखे। इसी लिए तो बारह का वक़्त मैंने रखा है। उस वक़्त तो आपका होटल बिलकुल ख़ाली रहता ही होगा? मेरा माथा ज़रा ठनका। मैंने कहा, आख़िर आप...समझकर ज़रा देर वह सोचता रहा। फिर जैसे कुछ झिझककर बोला, आप यह न सोचें कि मैं कोई ऐसा-वैसा आदमी हूँ। बात ही कुछ ऐसी है, कि मुझे यह-सब एहतियात करना पड़ता है। कहकर उसने मेरे चेहरे की ओर देखा कि मेरा सन्देह अब भी बना है या ख़त्म हो गया? लेकिन मेरा सन्देह कैसे ख़त्म हो जाता? मैंने कहा, साहब...समझकर वह मुस्कराया, फिर बोला, क्या मेरे चेहरे से आपको नहीं मालूम होता कि मैं एक शरीफ़ आदमी हूँ? ख़ैर, आपको सब-कुछ बता देने में कोई हर्ज नहीं है। बात यह है कि मैं पी० सी० एस० के इम्तहान में बैठा हूँ। आपको शायद मालूम नहीं होगा कि पिछले साल ही मैंने फ़र्स्ट डिवीज़न में एम० ए० किया था। सोची तो आई० ए० एस० में बैठने की थी, लेकिन फिर

दोस्तों की राय से पी० सी० एस० में ही बैठ गया। पर्चे बहुत अच्छे हो गये हैं, इन्टरव्यू में भी बहुत अच्छे मार्क्स आयेंगे। पूरी उम्मीद है। और जैसा कि इधर-उधर से मालूम हुआ है, मैं काफ़ी अच्छी पोज़ीशन से चुन लिया जानेवाला हूँ। अब, आपको यह बात नहीं मालूम होगी कि जो लोग चुने जानेवाले होते हैं, उनके बारे में सरकार सी० आई० डी० की रिपोर्ट माँगती है। एक-एक के पीछे कई-कई सी० आई० डी० छोड़ दिये जाते हैं। वे हर घड़ी उनका पीछा करते हैं। रहन-सहन, साथ-संगत, चाल-चलन, बर-व्यवहार, घर-ख़ान्दान, आने-जाने की जगहों, मिलने जुलनेवालों की पोज़ीशन, बात करने, चलने-फिरने, उठने-बैठने...कहने का मतलब यह कि उनकी हर बात को वे नोट करते हैं, और सरकार को रिपोर्ट देते हैं। इस रिपोर्ट का बहुत अधिक महत्त्व होता है। आप अब समझ गये होंगे, कि मैं क्यों यह एहतियात हर बात में बरत रहा हूँ। मैं रोज़ एकाध घंटा किसी-न-किसी अफ़सर के यहाँ सिर्फ़ यही देखने और सीखने जाता हूँ कि एक अफ़सर को कैसे रहना-सहना चाहिए। आख़िर पोज़ीशन की जगह है! ऐरों-ग़ैरों को तो वह मिल नहीं सकती! आदमी को उस लायक़ बनना ही पड़ता है। अगर कहीं किसी को यह मालूम हो गया कि मैं इस होटल में...आपसे इसी लिए मैंने कहा कि...समझ गये न? और, साहब, उसने खाना खाया, छुरी-काँटे, प्लेट-तश्तरी की हिदायतें दीं, अलगू पर रोब गाँठा। और जानते हैं, कितनी पेशगी जमा की?—कहकर वह हँस पड़ा। फिर आप ही बोला—तीन रुपये बारह आने, सात वक़्त खाने का! कहा कि रुपया अभी घर से नहीं आया। मनीआर्डर चल चुका है। दो-एक रोज़ में आ जायेगा तो जमा कर देगा।—और वह फिर हँस पड़ा ज़ोर से।

जाने क्यों, हँसी में मैं उसका साथ न दे सका।

वही फिर बोला—है न दिलचस्प आदमी ? डिप्टी तो जब बनेगा, बनेगा, लेकिन साहबी, अफ़सरी चाल-ढाल, बोल-चाल अभी से शुरू कर दी है ! सुना था न आपने, कल अलगू से वह कैसे बातें कर रहा था ? अलगू तो दो ही दिन में परेशान हो गया। कहता है, उसे खाना न परसेगा। लेकिन मुश्किल तो यह है कि उसके अलावा कोई और तब तक जगा नहीं रहता। मेरी समझ में नहीं आता, क्या करूँ ? यों मेरा ख़याल तो यही है कि वह ख़ुद एक हफ़्ते के बाद नहीं आयगा।—और सहसा हँस पड़ा। बोला—एक बात तो आपको बताना भूल ही गया !—और वह फिर देर तक हँसता रहा। हँसते-हँसते दुहरा हो गया। फिर खाँसने लगा। साँस ज़रा ठीक हुई, तो बोला—यहीं बग़ल में एक वकील साहब रहते हैं। कभी-कभी चाय-वाय पीने चले आते हैं। कल पाँच बजे आये, तो मैंने इन डिप्टी साहब के बारे में (आप तो जानते ही हैं कि बात करने लायक आदमी को देखते ही मेरी जीभ खुजलाने लगती है) उनसे बताया, तो वे इतने हँसे कि क्या बताऊँ ? फिर जानते हैं आप, उन्होंने क्या बताया ? उन्होंने बताया कि वह उनके यहाँ नौ बजे से दस बजे रात तक ट्यूशन करता है। उन्होंने शाम को वक़्त देने के लिए कहा, तो उनसे भी उसने ठीक वही बातें कहीं, जो मुझसे।—और फिर वह ज़ोरों से हँस पड़ा।

उसकी वह हँसी कितनी अमानवीय थी ! लेकिन उस होनेवाले डिप्टी साहब का अलगू के साथ व्यवहार ही कौन-सा मानवीय था ? फिर भी मेरी सहानुभूति उसकी ही ओर नहीं झुकी, ऐसा कैसे कहूँ ? उसके भोलेपन पर किसे तरस न आता ? हाँ, दिमाग़ में यह बात भी ज़रूर उठी कि सच ही एक दिन वह कहीं डिप्टी हो गया, तो कैसा अफ़सर बनेगा ? नौकरों, ग़रीबों के साथ कैसा ज़ालिमाना बर्ताव करेगा ? लेकिन इसके लिए उसे ही क्यों दोषी ठहराया जाय ? आज़ादी मिलने

के बाद भी जो 'अफ़सरी तौर-तरीक़ा' क़ायम है, उसकी ज़िम्मेदारी किसके सिर है, इसे कौन नहीं समझता ? किस तरह तकलीफ़ें उठाकर, ट्यूशनें करके इस ग़रीब नौजवान ने एम० ए० पास किया होगा और अब किस तरह अपना सब नंगापन ढँककर अफ़सर बनने का सपना देख रहा है, बल्कि सपने को पूरा होता समझकर अपने दिल-दिमाग़, तौर-तरीक़े तेजी से बदल रहा है ! इसे समझकर उसपर ग़ुस्सा कैसे आये, हँसी कैसे आये ? आख़िर हमारे देश के लाखों नौजवानों में से ही एक वह भी तो है, जो डिग्री प्राप्त करने के बाद अफ़सर ही बनने का सपना देखते हैं और न जाने उनमें से कितने जीवन के ऐसे स्तर पर फेंक दिये जाते हैं कि ज़िन्दगी-भर उन मासूम सपनों पर आँसू बहाया करते हैं; अपनी डिग्री, अपनी शिक्षा, अपनी क़िस्मत को कोस-कोसकर, एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मर जाते हैं। अफ़सर बनना तो बिरलों के ही भाग्य में होता है न !

और जाने मन कैसा हो गया, कि मैं तुरन्त मालिक के रोकने के बावजूद भी उठ खड़ा हुआ। उस साहब को एक नज़र देखना भी जैसे मेरे लिए मुश्किल लग रहा था। बारह बज गये थे। उसके आने में अब देर न थी। मैं बाहर हो गया।

दो दिन दस-ग्यारह बजे ही जाकर खा आया। मालिक से कोई भी बात न की। तीसरी रात एक मित्र आ गये और ज़बरदस्ती सेकेंड शो में खींच ले गये। साढ़े बारह के क़रीब लौटा, तो यह सोचकर कि साहब अब तक खाकर चला गया होगा, होटल में पहुँचा। अभी हमेशा की तरह दालान की सीट पर मालिक की बग़ल में बैठा ही था कि अन्दर से एक चीख़ आयी —डैम, स्वाइन, सब कपड़ा ख़राब कर दिया !

फिर अलगू की आवाज़ सुनायी दी—साहब, गाली क्यों बकते हैं ? जरा गलती हो गयी...

—शटअप, यू रास्कल ! हमारा कपड़ा ख़राब किया, ऊपर जवाब देता है !

—मैं कहता हूँ, आप गाली न बकिए ! छोटा होकर मेरे मुँह भी कोई हलकी बात निकल जायगी नाहक, तो आपकी इज्जत खर होगी।

—तुम हमारा इज़्ज़त ख़राब करेगा ?—और फिर चटाख़ से ए थप्पड़ पड़ने की अवाज़ आयी।

उठकर मालिक अन्दर लपका, मैं उसके पीछे-पीछे।

अलगू उबली आँखों से एक जंगली जानवर की तरह उसे घूरत दाँत पीस रहा था। मालिक ने किसी तरह उसे अलग किया। फिर साहब से बोला—आपको ऐसा न करना चाहिए था।

—तुम कहता है, ऐसा न करना चाहिए था ?—साहब जैसे अब भी अलगू से ही बातें कर रहा हो। वह ग़ुस्से से थर-थर काँप रहा था।

—तुम-ताम मत करो ! वह नौकर था, सह गया। लेकिन मुझे दिमाग़ दिखाओगे, तो सब साहबी अन्दर घुसेड़ दूँगा ! समझे ? शर्म नहीं आती ? उसपर हाथ छोड़ दिया। वह तुम्हारे बाप का नौकर था ?...

इससे आगे कुछ सुनना मेरी बर्दाश्त के बाहर था। मैं मालिक का हाथ खींचता उसे बाहर ले आया। साहब जैसे चोर की तरह बाहर निकल गया।

मुझसे उस रात खाना न खाया गया।...

छः ही महीने और वह होटल चला होगा। फिर जाने होटल का मालिक कहाँ चला गया। साहब की बात आयी-गयी हुई। उसने अपना नाम भी किसी को नहीं बताया था, वर्ना उसका नतीजा मैंने ज़रूर

के ा होता।

कि दस साल बीत गये।

ट्र. * * *

अ कटरे में बस रुकी, तो वह उतर पड़ा। मुझे आगे कचहरी के पास र तरना था, फिर भी वहीं उतरने से अपने को न रोक सका। वह तेज़ ल रहा था फिर भी उसके हाथ का झोला ऐसे लटक रहा था, जैसे हँ से थामनेवाला हाथ मुर्दा हो। साँझ के धुँधलके में उसका मोटे कपड़े का कुरता और पायजामा बड़े बदरंग दिखायी पड़ रहे थे। जी में एक ार तो आया कि लौट चलूँ, फिर जाने क्या हुआ कि लपककर उसकी ग़ल में जा पूछ बैठा—आज-कल आप क्या करते हैं?

—देहात के एक हायर सेकेंडरी स्कूल में मास्टर हूँ,—उसने और ी तेज़ क़दम उठाते, मुँह नीचा किये ही कहा।

—लेकिन आप तो पी० सी० एस० में...

—नहीं आ सका... ... बार बैठकर भी नहीं आ सका।

—लेकिन आप तो...

मेरे तभी छलाँग मरकर वह वह बग़ल की एक गली में घुस गया। कई अ तक मैं वहाँ ठिठका खड़ा रहा। मेरी ज़बान पर अटके सवाल की ड़वाहट से जैसे मेरा मुँह भर गया था। मुझे अफ़सोस हो रहा था कि क्यों मेरे मन में उसे देखकर ऐसी गन्दी शरारत कुलबुला उठी थी?

●